प्रज्ञावतार का स्वरूप और क्रिया कलाप

— श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञावतार का स्वरूप और क्रिया-कलाप

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१४ मूल्य : १०.०० रुपये

प्रकाशक
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

उत्थान और पतन सृष्टि-प्रवाह के उलटते-पलटते पृष्ठ हैं। यद्यपि इसमें प्रधानता सृजन की ही है, पर बीच-बीच में पतन और पराभव का सामना भी करना पड़ता है। विश्व के इतिहास में ऐसी घड़ियाँ अनेक बार आई हैं, जब विनाश का तांडव अपनी पूरी गति से नृत्य करता रहा है। उस समय जन-जन सर्वनाश की आशंका से काँप रहा था। पर स्रष्टा अपनी कृति को इतने सहज में प्रलय के मुख में नहीं जाने दे सकता। यह समय एक चमत्कार जैसा होता है जिससे नाश के गर्त में गिरता हुआ संसार-गति में जरा सा परिवर्तन हो जाने से बच जाता है। उसी को दैव की अवतार-लीला कहा जाता है।

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

प्रज्ञावतार का स्वरूप और क्रिया-कलाप

परमात्मा की इस सुंदर सृष्टि की सुव्यवस्था और सुंदरता अनुपम तथा अद्वितीय है। इसकी प्रगति-प्रक्रिया का एक इतिहास है, जिसमें नए अध्याय जुड़ते ही जाते हैं। इस प्रगति-प्रक्रिया के साथ ही अवगति क्रम का भी अंत नहीं। पतन और पराभव के तत्त्व अपना काम करते हैं तथा प्राणियों को अधिक जागरूक रहने की प्रेरणा देते हैं। जन्म जीवन-प्रवाह का एक सिरा है तो मृत्यु दूसरा छोर। सृष्टि का गतिचक्र इसी प्रकार चलता रहता है। विस्तार ही विस्तार होता जाए इतना स्थान इस ब्रह्मांड में नहीं है। इसीलिए वह चक्रगति से परिभ्रमण करता है। पहिये के अरे नीचे जाते हैं और फिर ऊपर उठते हैं। सृष्टिक्रम में भी यही होता है। शैशव, कैशोर्य और यौवन काल पूरा होते ही जरा-जीर्णता का चलना आरंभ हो जाता है और इस जरा-जीर्णता के बाद अंत में मरण आ उपस्थित होता है। यह मरण भी अंतिम नहीं है। मृत्यु के दिन से ही नए जीवन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है और मृतक को नया जन्म मिलता है। असमर्थ और रोगी वृद्ध के सामने मृत्यु की निराशा भरी स्थिति रहती है तो मृत्यु के बाद अगले चरण के रूप में नए जन्म, नए शैशव की अभिनव आशा भी दूरदर्शी बुद्धि द्वारा आसानी से देखी व समझी जा सकती है। निराशा के घनीभूत अंधकार में ऊषा की अरुणोदय आभा का आश्वासन हर आस्थावान व्यक्ति अनुभव करता है।

उत्थान और पतन के यह पन्ने समष्टि प्रवाह में भी उलटते-पलटते रहते हैं। इस प्रवाह में सृजन प्रधान है, उत्कर्ष प्रमुख है।

व्यवस्था शालीनता के साथ जुड़ी हुई है और यही जीवन है तथा यही विस्तार है, फिर भी पतन और पराभव से छुटकारा नहीं। चिनगारी यद्यपि छोटी होती है, घुन भी जरा सा होता है और विषाणु तो आँखों से देखे भी नहीं जा सकते हैं। इनकी सत्ता प्रायः नगण्य ही होती है फिर भी वे चुपके-चुपके इतना अधिक कर गुजरते हैं कि मृत्यु या उसके समान संकट का सामना करना पड़ता है। विश्व के इतिहास में भी ऐसे संकट की घड़ियाँ अनेकों बार आई हैं जब विनाश की तांडव लीला अपनी पूरी गति से नर्तन करती रही है। सर्वनाश की आशंका से उन घड़ियों ने जन-जन को भयाक्रांत भी किया है। यह सब होते हुए भी स्रष्टा अपनी इस अद्‌भुत कलाकृति को, विश्व-वसुधा को, मानवी सत्ता को सर्वनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही अपनी सजगता और सक्रियता का परिचय देते हुए परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार प्रस्तुत करता है।

यही अवतार है। संकट की सामान्य स्थितियों से तो मनुष्य स्वयं ही निपट लेता है पर जब असामान्य स्तर की संकटग्रस्त विपन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं तो स्रष्टा को स्वयं ही सक्रिय होना पड़ता है। वैसे सर्वमान्य के लिए उत्थान के साधन जुटाना कोई आसान कार्य नहीं है। फिर पतन के गर्त में द्रुतगति से गिरने वाले जनमानस को उलट देना तो और भी कठिन है। इस कठिन कार्य को स्रष्टा ने समय-समय पर स्वयं संपन्न किया है, जिसे अवतार प्रक्रिया कहा गया है।

अवतार प्रक्रिया ने ही समय-समय पर विश्व-वसुधा में, सृष्टि उपवन में उत्पन्न हुए असंतुलन को संतुलन में बदला और प्रस्तुत परिस्थितियों, समस्याओं का समाधान किया है। अवतार प्रक्रिया आदिकाल से चली आ रही है, और आदिकाल से अब तक मनुष्य जाति ने अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे हैं। स्वाभाविक ही भिन्न-भिन्न कालों में समस्याएँ और असंतुलन भिन्न-भिन्न प्रकार के रहे हैं। जब, जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, तब

उसी का समाधान करने के लिए एक दिव्य चेतना, जिसे अवतार कहा गया है प्रादुर्भूत हुई है और उसी क्रम से अवतार युग प्रवाह को उलटने के लिए अपनी लीलाएँ रचते रहे हैं। सृष्टि के आरंभ में जल था। प्राणिजगत में जलचरों की ही प्रधानता थी, तब उस असंतुलन को मत्स्यावतार ने साधा। जब जल और थल पर प्राणियों की हलचलें बढ़ीं तो उनके अनुरूप क्षमता संपन्न कच्छप काया ने संतुलन बनाया। उन्हीं के नेतृत्व में समुद्र मंथन के रूप में प्रकृति दोहन का पुरुषार्थ संपन्न हुआ। हिरण्याक्ष ने समुद्र में छिपी संपदा को ढूँढ़कर उसे अपने ही एकाधिकार में कर लिया तो भगवान का वाराह रूप ही उसका दमन करने में समर्थ सक्षम हो सका। जब मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक कमा सकने में समर्थ हो गया तो संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रेरित संचय की प्रवृत्ति भी बढ़ी। संचय और उपभोग की पशुप्रवृत्ति को उदारता में परिणत करने के लिए भगवान वामन के रूप में छोटे, बौने और पिछड़े लोग उठ खड़े हुए और बलि जैसे संपन्न व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक उदारता अपनाने के लिए सहमत कर लिया गया।

उच्छृखंलता जब उद्धत और उद्दंड हो जाती है, तब शालीनता से उसका शमन नहीं हो सकता। प्रत्याक्रमण द्वारा ही उसका दमन करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर नरसिंहों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं का पराक्रम अग्रणी रहता है। उन आदिम परिस्थितियों में भगवान ने नर और व्याघ्र का समन्वय आवश्यक समझा तथा नृसिंह अवतार के रूप में दुष्टता के दमन एवं सज्जनता के संरक्षण का आश्वासन पूरा किया।

इसके बाद परशुराम, राम, कृष्ण और बुद्ध के अवतार आते हैं। इन सभी का अवतरण बढ़ते हुए अनाचरण के प्रतिरोध और सदाचरण के समर्थन पोषण के उद्देश्य के लिए हुआ। परशुराम ने शस्त्रबल से सामंतवादी निरंकुश आधिपत्य को समाप्त किया।

राम ने मर्यादाओं के पालन पर जोर दिया तो कृष्ण ने अपने समय की धूर्तता और छल-छद्म से घिरी हुई परिस्थितियों का दमन **'विषस्य विषमौषधम'**, की नीति अपनाकर किया। कृष्ण चरित्र में कूटनीतिक दूरदर्शिता की इसलिए प्रधानता है कि इस समय की परिस्थितियों में सीधी उँगली से घी नहीं निकल पा रहा था इसीलिए काँटे से काँटा निकालने का उपाय अपनाकर अवतार प्रयोजन को पूरा करना पड़ा।

धर्मक्षेत्र में विकृतियाँ बढ़ी तो उनका स्वरूप साबुन से भी गंदगी फैलने जैसा हो गया था। मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन के पंचमकार धर्म की आड़ में लोक-व्यवस्था को तहस-नहस करने लगे और जनजीवन में अस्तव्यस्तता आने लगी तो बुद्ध ने धर्म व्यवस्था के लिए सज्जनों को संगठित कर, विवेक को सर्वोपरि स्थान पर प्रतिष्ठित किया। **'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'** ही बुद्ध का लीला संदोह है। इसका शंखनाद सुनकर बुद्ध के आह्वान पर लाखों धर्मप्रचारक प्रव्रज्या पर निकल पड़े तथा उन्होंने विचारक्रांति का आलोक संसार के कोने-कोने तक पहुँचाया।

परिस्थितियाँ बदलती रही हैं और इसके लिए भगवान को भी अपना आधार बदलते रहना पड़ा है। विकासक्रम की व्यवस्था के अनुरूप भगवान के अवतार का स्वरूप, स्तर तथा कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया। मनुष्य जब तक साधन प्रधान और कार्य प्रधान था तब तक शस्त्र और साधनों से काम चलता रहा लेकिन वर्तमान परिस्थितियाँ भिन्न हैं। इस समय बुद्धितत्त्व ही प्रधान है, यही तत्त्व चतुर्दिक छाया हुआ है। महत्त्वाकांक्षाओं के क्षेत्र में अनात्म तत्त्व की भरमार होने के कारण संपन्नता तथा समर्थता का दुरुपयोग ही बन पड़ रहा है। इस विकृति का क्षेत्र सीमित नहीं रहा, वरन इस समूची मानव जाति को ही इसने जकड़ लिया है। विज्ञान

की उपलब्धियों से दुनिया बहुत छोटी हो गई है और गतिशील तथा अति द्रुतगामी सिमटती हुई और तेज भागती दुनिया में भगवान का अवतार युगांतरीय चेतना के रूप में ही हो सकता है। इसी रूप से जनमानस को सुविस्तृत क्षेत्र में अपने पुण्य-प्रवाह का परिचय मिल सकता है जिसमें कि प्रज्ञावतार के प्रादुर्भाव की सूचना-संभावना सामने है।

बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। उनके लीला चरित के स्वरूप के विचार को एक शब्द में विचारक्रांति कहा जा सकता है। लाखों धर्मधारणा संपन्न व्यक्तियों ने इस प्रक्रिया में अपना योगदान संपन्न किया। आनंद जैसे मनीषी, हर्षवर्द्धन जैसे श्रीमान, आम्रपाली जैसे कलाकार और अंगुलिमाल जैसे दुस्साहसी, पराक्रमी प्रतिभाशाली लोग बड़ी संख्या में उस अभियान के अंग बने थे। बुद्ध से पहले हुए अवतारों का कार्यक्षेत्र सीमित था, क्योंकि उनके समय की समस्याएँ छोटी और स्थानीय थीं। बुद्ध काल तक समाज का विस्तार बड़े क्षेत्र में हो गया था। इसलिए बुद्ध का कार्य भी भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा और उन दिनों जितने व्यापक स्तर के प्रयास संभव थे, वे सभी अपनाए गए। इसका प्रभाव भारत ही नहीं पूरे एशिया में फैला। उससे भी आगे बढ़कर अन्य महाद्वीपों तक अपना आलोक पहुँचाया।

बुद्ध अवतार का उत्तरार्द्ध प्रज्ञावतार है, जो इन दिनों संपन्न होने जा रहा है। आज का युग बुद्धि प्रधान है और बुद्धि प्रधान युग की समस्याएँ भी चिंतन प्रधान हो सकती हैं। मनुष्य की प्रेरणाओं का केंद्र मान्यताएँ, इच्छाएँ तथा विचारधारणाएँ होती हैं और उन्हीं के प्रवाह में सारा समाज बहता है। ऐसे समाज में अवतार का स्वरूप तदनुरूप ही हो सकता है। लोकमानस में घुस मड़ी विकृतियों को उलटने तथा अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़ मान्यताओं को निरस्त करने में विचारक्रांति ही सफल हो सकती है। मानवी चेतना

को उत्कृष्टता की दिशा में घसीट ले जाने वाला और सामाजिक क्षेत्रों को समान रूप से प्रभावित करने वाला प्रवाह ही अपने समय का अवतार हो सकता है और वही हो भी रहा है। प्रज्ञावतार को इसी रूप में देखा जा सकता है।

अगले दिनों प्रज्ञावतार के प्रभाव से जन-जन के मन में छिपा हुआ वह उल्लास अनायास ही उत्पन्न होगा, जिसमें कि अंत:प्रेरणा ही वह कार्य संपन्न कर लेगी, जो सामान्य परिस्थितियों में संभव नहीं होता। अवतार-प्रक्रिया का चमत्कार ही यह है कि वह असंभव को संभव बना देती है।

दशों दिशाओं में रावण का आतंक फैला हुआ था। कोई यह सोच नहीं सकता कि उसका विरोध-प्रतिरोध किया जा सकता है। उसकी तथा उसके दानव परिवार की दुर्दांत शक्ति-सामर्थ्य को देखने और समझने वाले लोग निराश हो जाते थे। अनीति को सहते हुए तो असंख्य लोग मर रहे थे, पर उसका प्रतिरोध करते हुए मरने का शौर्य या साहस किसी में नहीं हुआ। सीता अपहरण जैसी हृदयविदारक घटना हुई, पर उसका प्रतिरोध करने या प्रतिशोध लेने की बात न तो अयोध्या में सोची गई और न मिथिला में। रघुवंशी भी चुप थे और राजा जनक के स्वजन परिवार भी कोई प्रयत्न नहीं कर रहे थे। ऐसे आतंक को चीरते हुए अशिक्षित और अनगढ़ समझे जाने वाले रीछ-वानरों का शौर्य उभरा तथा वे मरण से लड़ने के लिए प्राण हथेली पर लेकर चल पड़े। एक के साथ अनेक हुए। अन्य प्राणियों पर भी इसका प्रभाव हुआ। गिद्ध जैसे पक्षी ने शौर्य व साहस का परिचय देते हुए प्रत्यक्ष काल से लड़ने में संभावित मरण को भी उल्लास के साथ वरण किया। इस धर्मयुद्ध में सहायता करने के लिए गिलहरी अपने बालों में बालू भर-भर कर लाई।

इन घटनाओं का भले ही ज्यादा महत्त्व न हो पर यह तथ्य अवश्य प्रमाणित करता है कि जब आतंक को चीरते हुए अप्रत्याशित

रूप से सत्साहस उभरे तो समझना चाहिए कि दैवी चेतना काम कर रही है। अवतार की प्रक्रिया यही है कि उसमें सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी असाधारण शौर्य साहस का परिचय देते हैं। उस अवतार चेतना के प्रतीक राम थे या हनुमान, यह बात व्यर्थ है। लक्ष्य यह है कि इस स्थिति में अंतरालों ने आदर्शवाद अपनाया और दुस्साहस का परिचय देते हुए घाटे का सौदा स्वीकार किया।

कृष्ण के समय में इंद्र के कारण ब्रज प्रदेश जलमग्न हुआ जा रहा था। सामान्य बुद्धि उस दशा में भाग खड़े होने के अलावा कोई उपाय सोच भी नहीं सकती थी। लेकिन उन परिस्थितियों में असंभव को संभव करने वाला साहस उभरा तथा ग्वाल-बाल शिलाखंडों को दूर-दूर से समेटकर हाथ और लाठियों के सहारे लगाने लगे। इस प्रकार विशालकाय बाँध बनाया गया और बाढ़ तथा वर्षा से होने वाली हानि टल गई। इंद्र की हार हुई और मनुष्य जीत गया। असंभव लगने वाला काम संभव हुआ और गोवर्द्धन पर्वत उठ गया। श्रमशक्ति के नियोजन से सृजन का सत्परिणाम प्रत्यक्ष हुआ।

सामान्यतया ऐसा बड़ा काम किसी सुसंपन्न और समर्थ शासनतंत्र द्वारा ही संभव हो सकता था। गरीब और साधनहीन लोगों में न तो इतना ज्ञान होता है और न अनुभव ही। सामान्य बुद्धि इस प्रकार के दुस्साहस से अनर्थ होने का ही निष्कर्ष निकालती है और ऐसे झंझट या उलझन से दूर रहने का परामर्श देती है। इसके विपरीत महान उद्देश्य के लिए, जोखिम भरे दुस्साहस के लिए कटिबद्ध हो जाना आदर्शवादिता का ही काम है। इस स्तर की प्रेरणा प्रज्ञा शक्ति के अलावा और कोई नहीं दे सकता।

आगे चलकर कृष्ण काल में महाभारत हुआ। दुर्योधन के पास असीम साधन थे और पांडव वन-वन भटकते हुए अपनी जान बचाते फिर रहे थे। न कोई सहायक था और न कोई साधन। इस निरीह नितांत असहाय स्थिति में पांडवों के लिए कौरवों की अनीति से लड़ने

की बात किसी प्रकार संभव नहीं थी, फिर भी असंभव संभव हुआ। महाभारत रचा गया और पराजय की संभावना को समझते हुए भी असंख्य लोग न्याय पक्ष के समर्थन में लड़ने के लिए पहुँचे। अंततः न्याय की जीत हुई और अनीति-अन्याय हारा। साधनहीनों ने साधन संपन्नों को धूलि चटा दी। इस अवसर पर असमर्थों की साहसिकता देखते ही बनती थी, पर यह भी मात्र आदर्श का ही चमत्कार था। अवतार के अतिरिक्त किसी के द्वारा ऐसा नहीं होता कि लोग आदर्शों के लिए घाटा सहते हुए लड़ मरने का साहस बरत सकें।

बुद्ध के समय जन मानस बुरी तरह कुत्साओं और कुंठाओं के पाप-पंक में फँसा हुआ था। पुरोहित वर्ग अनाचार के इन दुर्दिनों में समाज को प्रतिगामी प्रेरणा का भाव दे रहा था। वातावरण में छाई दोहरी प्रतिकूलता के कारण शुभ परिवर्तन की संभावना क्षीण ही थी। निहित स्वार्थों पर आँच आना विपक्षियों को क्रुद्ध करने जैसा ही था। किसी ने कुछ कसर नहीं छोड़ रखी थी। अंगुलिमाल हिंसा का प्रतीक बना हुआ था तो आम्रपाली चरित्र हनन की। ऐसी परिस्थितियों को उलट देने वाला वातावरण बनाना निश्चित ही अप्रत्याशित था। पर वह अप्रत्याशित असंभव संभव होकर ही रहा। लाखों लोग अपने वैभव और सुखों को तिलांजलि देकर परिव्राजक बने और हर वर्ग ने विचारक्रांति में सहयोग दिया, भले ही वह संपन्न रहे हों या निर्धन। आदर्शवादी पराक्रम उफनता चला गया और प्रतिकूलताएँ इस तरह अनुकूलता में बदलती चली गईं कि न साधनों की कमी रही और न संपत्ति की। परिस्थितियों को देखते हुए यही लगता है जैसे भगवान ने सारा विधान पहले ही रच रखा था। बुद्ध की क्षमता और परिस्थितियों की विषमताएँ रहते हुए भी जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हें अवतार लीला के अतिरिक्त और क्या कहा जाए?

आदर्शवाद से भरे कथनोपकथन तो बहुत होते रहते हैं। पर ऐसे दुस्साहस कदाचित ही कभी फूटते हैं। जब लोग आदर्शों के परिपालन

में अपना सर्वस्व समर्पण करने की बात सोचते ही नहीं वरन हजार प्रतिकूलताओं के रहते हुए भी उसे कर गुजरें। यह आदर्शवादी दुस्साहस ही अवतार है। वह आदर्शवादी दुस्साहस के रूप में उत्पन्न होता है और असंख्यों को अनुप्राणित करता है। श्रेय किस व्यक्ति को मिला यह बात नितांत गौण है। झंडा लेकर आगे चलने वाले की फोटो के समान है। जबकि उस सैन्यदल में अनेकों का शौर्य पुरुषार्थ झंडाधारी की तुलना में कम नहीं अधिक होता है।

इसी तरह का चमत्कार गांधी युग में भी उत्पन्न हुआ। अंगरेजों की सामर्थ्य और शक्ति पहाड़ जितनी ऊँची थी। उन दिनों यह कहावत आम प्रचलित थी, "अंगरेजों के राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता"। क्योंकि बुद्धि-कौशल में भी उनका कोई सानी नहीं था। फिर निहत्थे मुट्ठी भर सत्याग्रही उनका क्या बिगाड़ सकते थे। हजार वर्ष से गुलाम रही जनता में भी ऐसा साहस नहीं था कि इतने शक्तिशाली साम्राज्य से लोहा ले सके और त्याग बलिदान कर सके। ऐसी निराशापूर्ण परिस्थितियों में भी फिर एक अप्रत्याशित उभार उमड़ा और स्वतंत्रता संग्राम छिड़ा, यही नहीं अंतत: वह विजयी होकर रहा।

उस संग्राम में सर्वसाधारण ने जिस पराक्रम का परिचय दिया वह देखते ही बनता है। असमर्थों की समर्थता और साधनहीनों से साधन तथा असहायों की सहायता के लिए न जाने कहाँ से अनुकूलताएँ उपस्थित हुईं और असंभव लगने वाला लक्ष्य पूरा होकर रहा। सूक्ष्म-जगत वाली प्रचंड शक्ति धाराओं का प्रवाह जो ऊपर से शांत और सामान्य दीखता है, किंतु भीतर से ज्वालामुखी जैसी विस्फोटक क्षमता भी रखता है, उसी का यह चमत्कार है। यह विस्फोट जब फूटता है तो सब कुछ उलट जाता है। बुद्धि के लिए अगम्य इसी विलक्षणता को अवतार कहते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से अवतार का विश्लेषण ऋतंभरा प्रज्ञा की उमंग भरी हलचलों के रूप में किया जाता है, जो अनायास ही

अंत:करणों में उभरती और अपनी प्रखरता के कारण आदर्शवादी दुस्साहस करने के लिए विवश करती है। यह अवतरण एक पर नहीं, अनेकों पर होता है। जो इस ऊर्जा के वाहन बनते हैं, वे सामान्य होते हुए भी असामान्य बन जाते हैं। सामान्य लोग संकीर्ण स्वार्थपरता से आगे की बात नहीं सोच पाते। वे निकट की बात देखते हैं, दूर की नहीं, इसलिए उनसे न लोभ छूटता है और न शौर्य अपनाते बनता है। किंतु जो अवतार ऊर्जा के वाहन बनते हैं, वे प्रचलन से विपरीत सोचते और किसी का समर्थन न मिलने पर भी अकेले चल पड़ने की सामर्थ्य रखते हैं। इस आवेश में कई व्यक्ति वह सब कर गुजरते हैं जिसे दैवी पराक्रम माना जाता है। इस प्रकार की चेष्टाएँ भी कर्त्ता को धन्य बनाती हैं और असंख्यों के लिए अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत कर उत्कृष्ट पराक्रम अपनाने का साहस प्रदान करती हैं। सामान्य भाषा में इन्हें महामानव कहा जाता है।

अवतार का मुख्य कार्य अपने काल में अदृश्य वातावरण को उच्चस्तरीय उमंगों से भर देना होता है। शेष कार्य तो युगसृजेता स्वयं ही करते हैं और उन्हें सहज ही सफलता भी मिल जाती है। ऐसे लोगों के लिए प्रतिकूलताओं से जूझने का पराक्रम और लोकश्रद्धा उभारने वाला बलिदान करना जरा भी कष्टसाध्य नहीं होता। जन-सामान्य जिसे मुसीबत को मोल लेना मानते हैं, मनीषियों के लिए वही कष्टसहन युग साधना के रूप में सम्मानित करता है। जाग्रत आत्माओं के अंत:करण में तत्त्वदर्शी जब इस प्रकार की उमंगें उठते हुए देखते हैं तो कहते हैं कि अवतार का यह आवेश असंतुलन को संतुलन में बदल कर ही रहेगा।

उस परंपरा का निर्वाह प्रज्ञावतार में होने जा रहा है तथा युगशक्ति के रूप में श्रद्धा और विवेक का संगम प्रकट हो रहा है। श्रद्धा अपनाने से पूर्व तथ्यों को खोजना और यथार्थता अपनाने के लिए विवेक का अवलंबन लेना ही पड़ता है अन्यथा अविवेक की

छाया में अंधश्रद्धा ही पनपती है और उससे लाभ के स्थान पर हानि होती है। बलिष्ठता शरीर की और बुद्धिमत्ता मस्तिष्क की शक्ति कही जाएगी। चेतना क्षेत्र की यही सर्वोपरि क्षमता है और यही अनंत सामर्थ्य प्रदान करता है।

जिन्होंने जितनी मात्रा में श्रद्धा अर्जित की है उन्होंने उतने ही महान और उच्चस्तरीय कार्य संपन्न किए हैं। क्योंकि उसी से उत्कृष्टता को व्यवहार में उतारने वाला दुस्साहस प्रस्फुटित होता है। गीताकार ने भी इस तथ्य को प्रकट करते हुए कहा है—"यह मनुष्य श्रद्धा से संचालित है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, जिसके अंत:करण में श्रद्धा का जो स्तर विद्यमान रहता है उसका जीवनक्रम उसी के अनुरूप बन जाता है।" अपने प्रचंड और प्रखर पुरुषार्थ द्वारा ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में लगने वाले युगशिल्पी अवतार के सहधर्मी और सहकर्मी ही माने जाते हैं। ऐसे लोग ही अनंत श्रेय के स्वामी बनते हैं। उनके स्तर और संख्या में वृद्धि होना इस तथ्य का प्रमाण है कि अवतार की तत्परता कब और कितनी प्रखर हो रही है?

श्रद्धा से सामर्थ्य उत्पन्न होती है, यह एक सुनिश्चित तथ्य है। सामर्थ्य का आकर्षण साधनों और सहयोगियों को प्रचुर परिमाण में खींचकर बुला लेता है, इसी प्रकार सदैव उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति होती रही है। साधनों में यह सामर्थ्य नहीं है, उनसे श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। इसलिए साधन संपन्न दृश्य तो खड़े कर लेते हैं, अपने साधनों से विनिर्मित प्रयासों द्वारा लोगों को आकर्षित व चमत्कृत भी करते हैं, पर उनसे अनुकरण की प्रेरणा नहीं मिल पाती। उनके साधन मात्र हलचलों का चलचित्र जैसा प्रतिविंब भर खड़ा कर पाते हैं, इसके आगे कुछ करने की प्रेरणा उत्पन्न करने की उनमें सामर्थ्य नहीं होती। यही कारण है कि धनवानों, कलाकारों, विद्वानों और प्रचारकों आदि द्वारा खड़े किए अभियान

आंदोलन अपनी उछल-कूद का परिचय तो देते हैं पर कोई ठोस करने में सफल नहीं होते। जहाँ तक मनुष्यों को दिशा धारा देने का प्रश्न है, उनकी अंतःस्थिति में उत्कृष्टता अभिवर्द्धन का प्रश्न है, उसके लिए एक ही उपाय कारगर होता है और वह है—श्रद्धासिक्त व्यक्तियों का अनुकरणीय आचरण। यह सघन श्रद्धा अपना चमत्कार प्रस्तुत कर सकती है। जबकि साधनों को प्रशंसा तक ही सीमित रहना पड़ता है और वे श्रद्धा का संचय करने में सदा असफल ही रहते हैं।

लोकमानस को अवांछनीयता से विरत कर उत्कृष्टता के प्रति भाव-विभोर कर देने की स्थिति को समष्टि का कायाकल्प ही कहा जा सकता है। यह कोई छोटा-मोटा नहीं बल्कि बहुत बड़ा काम है जिसके लिए शक्ति भी बहुत बड़ी ही चाहिए। कहा जा चुका है कि चेतना को प्रभावित करने वाली एक ही शक्ति है, वह है श्रद्धा, इसी को गँवा बैठने से अपने समय-समय के विश्वमानव को दुर्दशाग्रस्त होना पड़ा है। इसी अभाव के कारण साधनों की बहुलता भी सुख-शांति को बनाए रखने में सफल नहीं हो पा रही है, इसमें अभिवृद्धि करना तो दूर की बात रही।

वर्तमान समस्याओं का मूल कारण आस्था संकट है। श्रद्धा का संवर्द्धन ही इस संकट का निवारण करा सकने में सक्षम है और यह महत्कार्य ही नवयुग का—सतयुग का अवतरण है।

वर्तमान युग की विभीषिका
कारण और निवारण

सृजन की सत्प्रवृत्तियाँ शाश्वत हैं। वे निरंतर अपना कार्य करती रहती हैं। सृजन की सत्प्रवृत्तियों के साथ-साथ अनौचित्य के उन्मूलन की व्यवस्था भी चलती है। यह उन्मूलन सृष्टि व्यवस्था में संतुलन साधने के लिए ही है। यदा-कदा परिस्थितिवश सृजन की सत्प्रवृत्तियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं, पर वे सर्वथा नष्ट कभी नहीं होतीं।

लंका में रावण का राज्य था, असुर बहुसंख्या में थे, लेकिन विभीषण और मंदोदरी अपनी वरिष्ठता बनाए ही रहे। इतना ही नहीं अधिक समर्थ न होने के कारण उन्होंने अनीति का प्रतिरोध भले न किया हो पर उसका सहयोग और समर्थन भी नहीं किया। उलटे जब कभी भी अवसर आया उन्होंने असहयोग और विरोध ही किया। अपनी सामर्थ्य और परिस्थितियों की विषमता को देखकर ही सृजन के तत्त्व श्रेष्ठता के समर्थन तथा निकृष्टता के उन्मूलन का प्रयास करते हैं। किंतु कभी-कभी स्थिति बहुत विषम हो जाती है और सामान्य प्रयासों से सृजन की बढ़ी-चढ़ी आवश्यकता न तो पूरी होती है और न ध्वंस की विनाश लीला पर नियंत्रण बन पड़ता है। आतंक का अंधकार घना होता जाता है और इस स्थिति में निराशापूर्ण परिस्थितियाँ मानव पुरुषार्थ को हतप्रभ बना देती हैं। लगने लगता है कि परिस्थितियों पर नियंत्रण प्राप्त नहीं किया जा सकता और मनुष्य के हाथ से वह प्रखरता छिन गई जो पतन को उत्थान में बदल सकती है। यह असमंजस, निराशा यदि देर तक बनी रही तो ध्वंस के जीतने और विनाश के ही सफल होने की संभावना रहती है।

लेकिन यह निराशा देर तक नहीं बनी रहती। ऐसे अवसरों पर स्रष्टा का वह आश्वासन पूरा होता है जिसमें उसने अपने सुरम्य उद्यान को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही उसे बचाते रहने का सुनिश्चित विश्वास दिलाया है। **"यदा यदा हि धर्मस्य....."** वाली प्रतिज्ञा गीताकार ने अर्जुन के सम्मुख ही प्रकट नहीं की है, वरन शास्त्रों और आप्तवचनों में अनादिकाल से इस आश्वासन का अनवरत उल्लेख होता रहा है, न केवल उल्लेख, वरन उसके प्रकट होने का प्रमाण भी समय-समय पर मिलता रहा है।

दिव्यसत्ता का अवतरण ऐसे ही अवसरों पर होता है। अवतार ऐसी ही विषम परिस्थितियों में प्रकट होते हैं। मनुष्य का पौरुष जहाँ

लड़खड़ाता है, वहाँ गिरने से पूर्व ही सृजेता के लंबे और समर्थ हाथ असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। यही है स्रष्टा का लीला अवतरण—प्रकटीकरण। सृष्टि के आरंभ से लेकर अब तक इस तरह के अवतरण अनेक बार अनेक क्षेत्रों में होते रहे हैं और अनेकानेक विभीषिकाओं को निरस्त करते रहे हैं।

भूतकाल में यह विश्व बिखरा हुआ था। यातायात के साधन कम होने के कारण यह दुनिया छोटी-छोटी कई दुनियाओं में बटी हुई थी। इसलिए विषमताएँ भी क्षेत्र विशेष की स्थानीय परिस्थितियों की होती थीं। उस समय कोई विश्वव्यापी संकट प्रायः नहीं होता था, इसलिए अवतार भी क्षेत्रीय ही होते थे और उनके सामने लक्ष्य भी उतना ही सीमित रहता था जितना बड़ा कि संकट होता था। अपने देश में हिंदू धर्म की मान्यता के अनुसार २४ अवतार गिनाए जाते हैं। जैन ग्रंथों में २४ तीर्थंकर इनके अतिरिक्त हैं। सिखों के दस गुरु भी इसी श्रेणी के हैं। अन्य संप्रदायों में भी अपने प्रवर्तकों एवं देवताओं के अलग-अलग उल्लेख हैं। इस प्रकार हिंदू धर्म की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में जिन्हें अवतार माना जाता है उनकी संख्या हजारों तक जा पहुँचती है। फिर भारत के बाहर अन्य देशों एवं धर्मों की गाथाओं में अपने अवतारों का अलग से वर्णन है। ईसाई, मुसलिम, पारसी, यहूदी, ताओ आदि धर्मानुयायी अपने-अपने अवतारों की गणना अलग से करते हैं।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि मात्र धार्मिकता के क्षेत्र में ही आवश्यकताएँ और समस्याएँ नहीं होतीं। उससे बाहर भी बहुत कुछ है। उन क्षेत्रों की समस्याओं का समाधान करने वाली शक्तियाँ भी अनेक महामानवों के रूप में प्रकट होती रही हैं। दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा, शिक्षा आदि क्षेत्रों में छाए हुए अंधकार को प्रकाश में बदलने वाले व्यक्तियों को उनसे लाभान्वित होने वाले उसी श्रद्धाभाव से देखते हैं, जितने कि धर्म क्षेत्र में अवतारी पुरुष देखे जाते हैं। इन

क्षेत्रों को महान महत्त्वपूर्ण अनुदानों से उपकृत करने वाले मसीहा या अवतारों से कम पूज्य नहीं समझे जाते।

वर्तमान युग की विभीषिका

यह तो हुआ अवतारों के प्रकटीकरण का स्वरूप और उद्देश्य। प्रश्न उठता है कि इस समय कौनसा अवतार होने जा रहा है? और उसका उद्देश्य तथा कार्यक्रम कैसा क्या होगा? सर्वविदित है कि इस समय समाज का स्तर जिस क्रम से नीचे गिरता जा रहा है उसे देखते हुए तो यही लगता है कि आदर्शवादी मान्यताएँ लिखने-पढ़ने और सुनने तक ही सीमित रह जाएँगी। सामूहिक जीवन में इन दिनों शासनतंत्र की ही प्रधानता है। शासन व्यवस्था चूँकि प्रकारांतर से समाज व्यवस्था का दूसरा नाम है। इस दृष्टि से भ्रष्ट समाज को श्रेष्ठ शासन मिलने की आशा नहीं करनी चाहिए। यही कारण है कि सरकारें अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए अन्य देशों के प्रति जो रवैया अपनाती हैं उससे शोषण, विग्रह, आधिपत्य और युद्ध का गति चक्र ही गतिशील रहता है। इन दिनों जिसे शांतिकाल कहा जाता है वह और कुछ नहीं भीतर ही भीतर युद्ध की तैयारियाँ करने और एक दूसरे को कूटनीति के माध्यम से मात देने का शीतयुद्ध ही है। जब वह अवधि बीत जाती है तैयारी पूरी हो जाती है तो युद्ध उबलकर सीमा क्षेत्रों से बिखर पड़ता है। इन दिनों अणु अस्त्रों, विषाक्त गैसों और रासायनिक अस्त्रों का उत्पादन इतना बढ़ गया है कि कोई भी एक पागल व्यक्ति सनक उठेगा तो इस मानवी सभ्यता का अंत कर डालेगा जो अनादिकाल के श्रम साधनों से अर्जित-विकसित हुई है।

इधर तेजी से बढ़ती जा रही जनसंख्या ने पृथ्वी पर इतना बड़ा भार खड़ा कर दिया है कि एक शताब्दी में धरती उसे उठा ही नहीं सकेगी। कारखाने जिस अनुपात से प्रदूषण और विकिरण उत्पन्न कर रहे हैं, उसका प्रभाव मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक संतुलन

को स्थिर नहीं रहने दे सकता। यही कारण है कि मनुष्य का शरीर और मन दिनोंदिन दुर्बल होता जा रहा है। यह दुर्बलता प्रकृति के नियमों और नए-नए आरंभ होने वाले प्रयत्नों को आगे सहन कर सकेगी, इसमें संदेह है।

इन दिनों समृद्धि, साधनों और सुविधाओं में आश्चर्यजनक रूप से वृद्धि हुई है। सामान्य बुद्धि तो यही सोच सकती है कि इस कारण सुख-शांति बढ़नी चाहिए तथा लोगों को चैन और संतोष मिलना चाहिए। परंतु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। व्यक्ति दिनोंदिन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टि से रुग्ण तथा दुर्बल पड़ता जा रहा है। कहा जाए कि रुग्णता एवं दुर्बलता फैशन की तरह व्याप गई है तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। मानसिक विकास के लिए विद्यालयों और पुस्तकों के रूप में अगणित साधन विद्यमान हैं। रेडियो, अखबार, प्रदर्शनी, यात्रा, सभा, सम्मेलन आदि की सुविधाएँ बढ़ी हैं और उसके साथ ही जानकारी का क्षेत्र भी बढ़ा है। अशिक्षा का उन्मूलन करने के लिए युद्ध स्तर पर प्रयास चल रहे हैं तथा विज्ञान एवं कुशल लोगों की संख्या तूफानी गति से बढ़ रही है। फिर भी मनोरोग, हेयचिंतन, दुर्भाव, अनुपयुक्त महत्त्वाकांक्षा और निकृष्टता में रस अनुभव करने के कई एक कारण उत्पन्न हो गए हैं, जिनसे असंतुलन, उद्वेग और आक्रोश पैदा करने वाले तत्त्व भी बढ़ गए हैं।

कहा जा सकता है कि सामान्यत: लोग संतोष और शांति से वंचित हैं। प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता कुछ ही लोगों के चेहरों पर दिखाई देती है। हर व्यक्ति खिन्न, चिंतित एवं उदास ही दिखाई देता है। आशंकाओं तथा समस्याओं के कारण हर व्यक्ति त्रस्त सा दिखाई देता है तथा असुरक्षा और एकाकीपन का जोर इतना बढ़ गया है कि जिंदगी एक भारी वजनी लाश की तरह ढोनी पड़ रही है। बढ़ी हुई विपन्नताओं और विक्षोभों के कारण हत्या तथा आत्महत्या

का दौर चल पड़ा है। अर्द्धहत्या और आधी आत्महत्या की घटनाएँ तो पग-पग पर देखी जा सकती हैं। मनोरोगियों और दुर्बल मन लोगों की संख्या इस तेजी से बढ़ रही है कि खराब और संतुलित मन:स्थिति वाले व्यक्तियों को खोज निकालना कठिन दीखता है। बाहर से चतुर और बुद्धिमान, सुसंपन्न और सुशिक्षित दीखने वाले व्यक्ति भी भीतर इतने खोखले तथा उलझे हुए पाए जाते हैं कि कई बार तो उनके शिक्षित होने पर ही संदेह होता है।

इन दिनों पारिवारिक स्नेह-सौजन्य और सहयोग, सुहृदयता की भावनाएँ भी घटते-घटते समाप्ति के बिंदु तक जा पहुँची हैं। परिवार में रहने वाले सदस्यों के भीतर एकदूसरे के प्रति जो आत्मीयता होनी चाहिए उसके दर्शन दुर्लभ होते जा रहे हैं। कुटुंबों में लोग रहते तो हैं पर एक दूसरे के प्रति जो प्रेम सद्भाव होना चाहिए, वह न होने के कारण स्थिति ऐसी बन जाती है जैसे किसी भीड़ को बाड़े में घेर दिया गया हो। घर के लगभग सभी सदस्य एकदूसरे के प्रति स्नेह भाव रखने के स्थान पर अपनी-अपनी गोटी बिठाने में लगे रहते हैं और यह सोचते रहते हैं कि परिवार संस्था से किस प्रकार अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

अधिकार की मांग करने और कर्त्तव्यों-दायित्वों के प्रति उपेक्षा बरतने की रीति-नीति अपनाए रहने के कारण परिवार एक तरह से नीरस और निरानंद होते जा रहे हैं। दुकान, नौकरियाँ, दफ्तर से घर लौटने पर परिवार में जिस तरह का वातावरण मिलना चाहिए उससे अधिकांश लोग वंचित हैं और थकान मिटाने के नाम पर अनुचित और मिथ्या आधार ढूँढ़ते देखे जा सकते हैं। पति-पत्नी का संबंध एक प्राण दो देह माना गया है। जीवनरथ को अग्रगामी बनाने में दोनों की दो पहियों की भूमिका समझी गई है। नाव खेने में जिस तरह दोनों हाथों का उपयोग होता है उसी प्रकार गृहस्थी की सुव्यवस्था में पति-पत्नी दोनों का योगदान महत्त्वपूर्ण समझा गया है। किंतु

दाम्पत्य संबंधों की जो स्थिति है उन्हें देखकर तो यह लगता है कि ये आदर्श कहने सुनने मात्र की बातें बनकर रह गए। व्यवहार में तो ये कहीं देखने में नहीं आते। एक यौनलिप्सा के कारण ही दोनों आपस में एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। इसी बीच किसी दुर्घटना की तरह बच्चे आ टपकते हैं। बच्चों के प्रति प्रकृति प्रदत्त जो माया-मोह होता है उस कारण भी पति-पत्नी एक दूसरे से बचे रहते हैं। यदि यौन आकर्षण और बच्चों के प्रति मोह हर लिया जाए तो सहज ही सौजन्यता से प्रेरित दाम्पत्य जीवन कहीं शायद ही दिखाई दे।

समृद्ध देशों में स्वच्छंदता के कारण तथा पिछड़े देशों में विवशता के कारण ही पति-पत्नी के बीच लंगड़ा-लूला स्नेह संबंध बना रहता है। परिवार संस्था टूटती जा रही है। वयस्क होते और बीबी आते ही हर किसी के मन में अलग घर बसाने की बात सूझती है। यदि मजबूरी के कारण परिवार में रहना भी पड़ता है तो उनके मन में भी यही बात उठती है कि संयुक्त परिवार में अन्य सदस्य न रहते तो अच्छा होता। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ और उनके अभिभावक पहले से ही यह सतर्कता बरतते हैं कि जिस परिवार में लड़की जाए वह छोटा ही हो। विलगाव की इस प्रवृत्ति से पारिवारिक जीवन का स्वर्ग एक प्रकार से छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त होकर नरक बनता चला जा रहा है। गृहस्थ जीवन का भावनात्मक आनंद कितना उच्चस्तरीय होता है इसकी अनुभूति होना तो दूर रहा कल्पना कर पाना भी कठिन होता जा रहा है।

आर्थिक दृष्टि से देखा जाए तो प्रायः सभी लोग दरिद्र हैं। जिनके पास साधनों का अभाव है वे तो दुःखी हैं ही, उससे भी ज्यादा कहीं वे लोग उद्विग्न हैं जिनके पास प्रचुर साधन सुविधाएँ हैं। इसका कारण है कि धन कमाना और इसका सदुपयोग करना दोनों बातों में बहुत अंतर है, इतना अंतर कि उन्हें अलग-अलग

बातें भी कहा जा सकता है। धन कमाना तो पहले की अपेक्षा आसान होता जा रहा है, पर उपार्जित धन का सदुपयोग न होने के कारण इसका अर्थ संतुलन ही गड़बड़ा जाता है। विलासिता, फैशन, बनावट, शान-शौकत के लिए लोग इतना खरच करते हैं कि कई बार तो भोजन-वस्त्र जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं में भी कटौती करनी पड़ती है। बड़प्पन जैसे अपव्यय का ही दूसरा नाम है। ऐसी दशा में सच्चे अर्थों में जिसे संपन्नता कहा जाना चाहिए, लोगों के पास प्रचुर धन संपदा आने पर भी कहीं दिखाई नहीं देती। परिणामस्वरूप अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ और विग्रह उत्पन्न हो रहे हैं। उपार्जन और व्यय का कोई तालमेल न बने, व्यय आय से अधिक हो तो ऋणी बनने या कुकर्म करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता। जब उचित से काम नहीं चलता तो अनुचित उपार्जन का रास्ता अपनाना पड़ता है। इतना होते हुए भी लोग आर्थिक दृष्टि से सुखी संतुष्ट नहीं। धनी-निर्धन हर किसी को अर्थ संकट की शिकायत करते देखा सुना जा सकता है।

समाज व्यवस्था ऊपर से तो बहुत बड़ी दिखाई देती है लेकिन गहराई से उसका विश्लेषण किया जाए तो प्रतीत होगा कि उसमें खोखलेपन के सिवा कुछ नहीं है। मित्रता की ओट में जितना छल-छद्म चलता है, उतना छल-छद्म कर दुश्मन भी वैसी हानि नहीं पहुँचा सकते हैं। सबंधियों के बीच जिस प्रकार एक दूसरे को लूट लेने का कुचक्र चलता है, इसकी एक झाँकी ब्याह-शादियों में होने वाले लेन-देन के रूप में देखी जा सकती है, ग्राहक और विक्रेता में, अधिकारी और अधीनस्थों में जैसा सदाशयतापूर्ण व्यवहार या संबंध होना चाहिए उसका कहीं दर्शन नहीं होता। मूल्य, तोल और स्तर के संबंध में ग्राहक को जहाँ छल की आशंका बनी रहती है, वहीं अधिकारियों और सामान्य जनों के संबंधों का आधार रिश्वत पर केंद्रित होता जा रहा है। परदेश में अपरिचितों के बीच वही जिंदा रह

सकता है जो समुचित सतर्क रह सके। स्थिति यह है कि विश्वास करने और निश्चिंत रहने वाले लोग पग-पग पर जोखिम उठाते हैं। सेवक-स्वामी के बीच का रिश्ता अब समाप्त ही समझना चाहिए क्योंकि दोनों में सद्भावना के सूत्र अब नहीं रहे। मालिक को साँप पालने वाले की तरह चौकन्ना रहना पड़ता है तो नौकर को हर घड़ी शोषक के साथ रहने जैसा अप्रिय लगता है। परस्पर सहयोग से जो समृद्धि और व्यवस्था बढ़ सकती है, उसकी संभावना निरंतर घटती जा रही है। श्रम संकट आज के समाज की इतनी बड़ी समस्या है कि उसने मानवीय प्रगति का रास्ता ही अवरुद्ध कर दिया है।

सामाजिक प्रचलनों को देखते हुए लगता है कि इस प्रवाह में बहने वाला समाज विपत्तियों के गर्त में ही गिरेगा और गिरा रहेगा। नशेबाजी, फैशनपरस्ती, विलासिता, धूर्तता, उच्छृंखलता जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ सभ्यता का अंग बन गई हैं। विडंबना तो यह है कि बुद्धि और तर्क का युग कहे जाने वाले अपने समय में अंधविश्वासों और कुरीतियों की इतनी भरमार है कि इतनी पत्थर युग के अनादिकाल में नहीं रही। बुद्धिमत्ता और मूर्खता का यह विचित्र समन्वय देखते ही बनता है। ज्योतिषी, तांत्रिक, भविष्यवक्ता और जादूगरों ने जिस प्रकार धर्म और अध्यात्म को ग्रस लिया है, उसे देखते हुए लगता है कि विवेक का अरुणोदय अभी बहुत दूर है और भ्रांतियों से छुटकारा पाने में काफी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। जाति, लिंग का भेदभाव, आर्थिक असमानता, क्षेत्रीय संकीर्णता, मठ संप्रदायों की कट्टरता, आचार-विचार की शैली, विनोद के व्यसन, साहित्य, कला अभिरुचि और चिंतन धारा की स्थिति को देखते हुए लगता है कि मध्यकालीन अंधकार युग कहकर जिसे कोसा जाता है, अभी ज्यों का त्यों विद्यमान है, उसने मात्र अपना पुराना चोला उतारा और नया जामा पहना है। सामाजिक प्रवाह के अनुसार ही सामान्य जनमानस ढलता है और लोक- प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। यदि

उसमें अमानवीय तत्त्व ही भरे रहते तो फिर यह आशा करना व्यर्थ है कि लोग शालीनता को अपने जीवन व्यवहार में स्थान देंगे।

ऐसी बात नहीं है कि प्रगति और शांति के लिए कुछ नहीं किया जा रहा है अथवा उस स्तर के प्रयासों की कोई उपलब्धियाँ नहीं मिल रही हैं। लेकिन जो कुछ किया जा रहा है और उपलब्ध हो रहा है वह इतना अपर्याप्त है कि सृजन से ध्वंस की गति तीव्र है और इस कारण दिवालिया बनने जैसी विपत्ति में फँस जाने की संभावना ही अधिक है। जिससे निकलने के लिए नई सृष्टि की शुभ घड़ी आने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। भौतिकी क्षेत्र में जहाँ विपत्तियों की बाढ़ है, वहाँ आत्मिक क्षेत्र में विकृतियों का अंधकार छाया हुआ है। वर्तमान समस्याओं को सुलझाने तथा भविष्य की विभीषिकाओं को निरस्त करने में मनुष्य के आधे-अधूरे प्रयास सफल हो सकेंगे, इसमें संदेह ही है।

ऐसी विषम परिस्थितियों में ही ईश्वरीय सत्ता का अवतरण होता है जिसे अवतार कहा जाता है। मनुष्य का बाहुबल जब थक जाता है और विनाश की आशंका बलवती हो जाती है तो स्थिति को बदलने का पुरुषार्थ महाकाल को ही करना पड़ता है। स्रष्टा को अपनी इस सुरम्य रचना का दुःखद अंत सहन नहीं हो सकता। वे धर्म हनन और अधर्म की वृद्धि को एक सीमा तक ही सहन कर सकते हैं उससे आगे नहीं। राज्यों में राष्ट्रपति शासन तभी लागू होता है, जब वहाँ की सामान्य व्यवस्था लड़खड़ा जाती है। पागलों और बालकों का उत्तरदायित्व अन्य संरक्षकों को सौंप दिया जाता है। इन दिनों ऐसा ही होने जा रहा है। महाकाल की चेतना सूक्ष्मजगत में ऐसी महान हलचलें विनिर्मित कर रही है कि उसके प्रभाव तथा परिणाम अप्रत्याशित और चमत्कारी जैसे दीखेंगी।

अवतार सदैव ऐसी ही दुःस्थिति में होते रहे हैं जैसी कि इन दिनों है। अवतारों ने लोक चेतना में ऐसी प्रबल प्रेरणाएँ भरी हैं

जिससे कि अनुपयुक्त को उपयुक्त में बदल देने की असाध्य प्रतीत होने वाली संभावना भी सरल हो जाए। दिव्य चक्षुओं से युगांतरीय चेतना को गंगावतरण के समान इस पृथ्वी पर उभरते देखा जा सकता है। प्रत्यक्ष रूप से भी कुछ ही दिनों में सुनिश्चित रूप से अवतार की लीला दिखाई पड़ेगी।

कहा जा सकता कि परमात्मा तो निराकार और अदृश्य होता है। सूक्ष्मजगत में निवास करने वाली अदृश्य शक्तियाँ भी निराकार होती हैं। फिर वे किस प्रत्यक्ष जगत को प्रभावित करती और परिवर्तन क्रम प्रस्तुत करती हैं? उसका उत्तर एक ही है सूक्ष्म जगत में निवास करने वाली अदृश्य शक्तियाँ निराकार होती हैं, और उनका कार्यक्षेत्र भी अदृश्य होता है, किंतु उनके परिणाम और प्रतिक्रियाएँ देखी व अनुभव की जा सकती हैं। व्यापक युग असंतुलन को साधने, सँभालने, सुधारने के लिए ईश्वरीय सत्ता अवतरित होती है तो वह अपना कार्य उन्हीं लोगों से कराती है, जिनमें दैवी तत्त्वों का बाहुल्य हो और इस प्रयोजन के लिए दी जाने वाली विशेष क्षमताओं के सत्पात्र हों। अवतार तो एक शक्ति, एक चेतना और एक प्रवाह है, जिसका प्रभाव सारे वातावरण को झकझोरता और झिंझोड़ता है। लोकमानस भी उससे अप्रभावित नहीं रह जाता। उस प्रभाव के परिणामस्वरूप अवांछनीयता की जड़ें खोखली होने लगतीं और औचित्य की स्थिति दिनोंदिन सुदृढ़ होती चली जाती है।

कहा जा चुका है कि ईश्वरीय सत्ता का अवतरण युग असंतुलन को साधने और संतुलन स्थापित करने के लिए होता है। कब, किस प्रकार के असंतुलन को साधने के लिए, ईश्वरीय सत्ता को अवतरित होना पड़ता है? इसका विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इन दिनों पुनः वैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं, स्रष्टा को संतुलन साधने के लिए अवतरित होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य

हो गया है। इस बार की परिस्थितियाँ पिछले बार की सभी परिस्थितियों से भिन्न और भीषण हैं। इन दिनों समृद्धि साधन पहले की अपेक्षा बेतहाशा बढ़े हैं, परंतु विपन्नता और क्षोभ भी कई गुना बढ़ा है। अवतार की आवश्यकता को समझने के लिए अपने युग की विसंगतियों को भी समझ लेना चाहिए।

विभीषिकाओं का उपचार-प्रज्ञावतार

कई लोग मनुष्य के सामने प्रस्तुत व्यक्तिगत और सामूहिक कठिनाइयों का कारण खोजते समय मानते हैं कि ग्रह-नक्षत्रों की गति, विधि-विधान, प्रकृति की परिस्थितियाँ उसके विपरीत हैं। इसी से कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ग्रह-नक्षत्र और विधि-विधान को न मानने वाले लोग भी आसन्न संकटों और विपदाओं के लिए प्रकृति की प्रतिकूलता को दोषी ठहराते हैं और सुविधाएँ बढ़ने की स्थिति में प्रकृति की अनुकूलता को धन्यवाद दिया जाता है। ऐसा होता तो है परंतु अपवादस्वरूप ही, क्योंकि मनुष्य की विलक्षण बुद्धि प्रकृति की प्रतिकूल परिस्थितियों से बच निकलने तथा अनुकूलता उत्पन्न करने का मार्ग खोज लेती है।

प्रकृति के परिवर्तन प्राणियों को प्रभावित करते हैं और उन्हें सुविधा-असुविधाजनक परिस्थितियों में रहने के लिए बाध्य भी करते हैं, पर यह तथ्य वस्तुतः साधारण प्राणियों पर ही लागू होता है। मनुष्य की बुद्धि परिस्थितियों के प्रभाव से बच निकलने में समर्थ है, भले ही वह प्रकृति पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित न कर पाए, लेकिन परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में पूर्णतया सक्षम है और सफल भी होती है। अगले दिनों इस सफलता का स्तर और अनुपात बढ़ता जाएगा—यह आशा भी की जा सकती है।

प्रश्न उठता है कि भली-बुरी परिस्थितियों के लिए प्रकृति जिम्मेदार नहीं है तो फिर कौन से कारण हैं जो ये उतार-चढ़ाव प्रस्तुत करते हैं? इसका उत्तर एक ही है—मनुष्य का चिंतन और

प्रयास। जो शक्ति प्रकृति को अपने अनुकूल बना सकती है, वही मनुष्य के लिए संकट भी उत्पन्न करती है, लेकिन आदिकाल से अब तक के इतिहास का प्रगतिक्रम प्रमाणित करता है कि मनुष्य उनसे हारता नहीं है। यह बात अलग है कि वह प्रकृति पर विजय प्राप्त न कर सका हो पर उत्पन्न परिस्थितियों से तालमेल बिठाकर अपनी सुरक्षा अवश्य कर लेता है।

प्रकृति की प्रतिकूलता, जमाने का दोष, कलियुग का दौर और भाग्य का चक्र आदि कारण बताकर अपने मन को समझाया ही जा सकता है, उससे कुछ समाधान नहीं मिलता। राजनीति, धर्म, दर्शन, धन, शक्ति आदि को भी वर्तमान परिस्थितियों के लिए उत्तरादायी ठहराया जा सकता है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनमानस उससे सर्वथा निर्दोष है, उसका कोई दोष नहीं। किसी भी क्षेत्र में कोई मूर्द्धन्य व्यक्ति उभरकर आते हैं तो वे कोई आकाश से नहीं उतरते। उसी समाज में वे पैदा होते हैं, जिसकी स्थिति के लिए उन्हें दोषी ठहराया जाता है। उस समाज का, जनमानस का स्तर ही प्रतिभाएँ उत्पन्न करता है और उन्हें दिशा देता है।

प्रत्यक्ष को ही मानने वाले मनुष्य के कर्मों को ही उसकी परिस्थितियों का कारण मानते हैं, लेकिन जो गइराई तक सोच-समझ सकते हैं, वे जानते हैं कि शरीर जड़ पदार्थों का बना हुआ एक उपकरण मात्र है। जिसमें क्रियाशीलता तो है पर वह विवेक नहीं कि क्या करें और क्या न करें। यह निर्णय-निश्चय तो मन को ही करना होता है। शरीर मन का ही आज्ञानुवर्ती और सेवक मात्र होता है। मन जैसा कहता है और आदेश देता है, शरीर वैसा ही करने लगता है। अच्छी-बुरी आदतें व्यक्त रूप में शरीर के अभ्यास से जुड़ी प्रतीत होती हैं, पर सचाई यह है कि गुण, कर्म और स्वभाव का सारा ढाँचा मन में विद्यमान रहता है। शरीर तो इसके इशारे पर नाचने वाली कठपुतली की तरह ही क्रियाशील होता है। यह मानना

ही पड़ेगा कि शरीर से संपन्न हुई प्रत्येक क्रिया के लिए मानसिक स्तर ही कारण है।

व्यक्तित्व का आधारभूत केंद्र मन से भी आगे है। उस परत को, व्यक्तित्व के मूल मर्मस्थल को आत्मा का केंद्र—अंत:करण कहा जा सकता है। यहीं से भाव-संवेदनाएँ उठती हैं। रुचि और इच्छाओं का यहीं पर निर्माण होता है। सामान्य बुद्धि से शरीर द्वारा अपनाए जाने वाले क्रिया-कलाप ही भली-बुरी परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी होते हैं। सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले इससे आगे तक खोजते हैं और मानसिक स्तर को, विचार-विन्यास को इसके लिए महत्त्व देते हैं। प्रज्ञा इससे भी आगे तक पहुँचती है और वह परिस्थितियों के लिए विचारणाओं को एवं कार्यों को एक सीमा तक ही उत्तरादायी मानती है। उसका अंतिम निर्णय, निष्कर्ष विवेचन यह होता है कि अंत:करण का स्तर ही विचारों के समुच्चय में से अपने लिए अनुकूल विचार अपनाता है और उससे आंतरिक उमंगें उठती हैं। काया की किसी दशा विशेष को विचारणा एवं क्रियाशीलता ही प्रभावित करते हैं। व्यक्ति जो कुछ सोचता या करता है वह सब कुछ आस्थाओं एवं आकांक्षाओं के उत्पत्ति केंद्र अंत:करण का ही निर्देश होता है।

सामान्यत: सभी के लिए एक-सी परिस्थितियाँ होती हैं। साधन-सुविधा के अवसर किन्हीं-किन्हीं को ही उत्तराधिकार या विरासत में मिल पाते हैं, पर आमतौर पर सारा उपार्जन मनुष्य की आंतरिक अभिरुचि के अनुरूप होता है। चुंबकत्व का यही उद्गम केंद्र अपने अनुरूप साधनों, विचारों और व्यक्तियों को आकर्षित करता है। इसे व्यक्तित्व की वास्तविक पूँजी या कुंजी कहा जाना चाहिए। कहा तो यह जाता है कि जो जैसा सोचता है वह वैसा ही बनता है। पर वास्तविकता यह है कि जिसकी जिस स्तर की आकांक्षा होती है उसे उसी स्तर के विचार सुनने या अपनाने पड़ते हैं। मन में जो विचार जम जाते हैं, वे ही शरीर को अपनी मनमरजी के अनुसार

मशीन की तरह चलाते और उपकरणों की तरह घुमाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इस सत्य का उद्घाटन करते हुए कहा है— **"श्रद्धामयोऽयं पुरुषोः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।"** अर्थात- व्यक्तित्व श्रद्धा का ही प्रतिफल है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका सार ही ठीक उसी के अनुरूप हो जाता है।

यद्यपि परिस्थितियाँ भी किसी को कुछ-से-कुछ बना देती हैं पर उन्हें अपवाद ही कहा जाना चाहिए। इतने बड़े संसार में यदा-कदा बेतुके प्रसंग घटना कोई अप्रत्याशित या अनहोनी बात नहीं है। अनुपयुक्त लोगों को भी कई बार ऊँची स्थिति में देखा जा सकता है और उपयुक्त व्यक्ति भी कुछ समय तक निम्न स्थिति में पड़े रह सकते हैं पर यह नियम नहीं, अपवाद ही है। व्यक्ति के स्तर और परिस्थिति के बीच यदा-कदा असंगति भी देखी जाती है पर वह अधिक समय तक नहीं टिकती। अयोग्य व्यक्ति न तो उच्च स्थिति को स्थिर रख सकते हैं और न ही श्रेष्ठ उपलब्धियों की सुरक्षा कर पाते हैं। साथ ही श्रेष्ठ व्यक्तियों को भी देर तक हेय परिस्थितियों में नहीं रहना पड़ता है। देर-सबेर वे अपना प्रातव्य अर्जित कर ही लेते हैं।

प्राचीनकाल और वर्तमान समय में भी जो तुलनात्मक विसंगतियाँ आती रही हैं, उनका कारण भी परिस्थिति नहीं मनःस्थिति है। परिस्थितियों की दृष्टि से तो सुविधा-साधन इन दिनों प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। आज के लोग पुरातन काल की अपेक्षा शिक्षा, संपत्ति, चिकित्सा, शिल्पकला, व्यवसाय, विज्ञान आदि की दृष्टि से अधिक समृद्ध और सौभाग्यशाली हैं; किंतु स्वास्थ्य, संतुलन, स्नेह, सौजन्य और सहयोग, सद्भाव की दृष्टि से चतुर्दिक वीभत्स भयंकरता व्याप रही है। जबकि होना यह चाहिए था कि लोग अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध और सुसंस्कृत दिखाई पड़ते। प्रसन्न रहते और प्रसन्न दीखते। लेकिन हुआ इससे उलटा ही है। जो क्षमताएँ सृजन और सहयोग में नियोजित होकर संसार में स्वर्गीय वातावरण बना सकती थीं, वे ही एकदूसरे को काटने

और गिराने में लगी हुई हैं। यह निर्णय क्योंकर हुआ ? उत्तर एक है— आदर्शवादी आस्थाओं का पलायन, अंत:करण के स्तर का अवमूल्यन। इसी की प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्ति और समाज के सामने अनेकानेक समस्याएँ विपत्तियों और विभीषिकाओं के रूप में खड़ी दृष्टिगोचर हो रही हैं।

पुरातन की अपेक्षा लोग थोड़े से साधनों में गुजारा कर लेते थे। अबकी अपेक्षा उस समय साधनों का घोर अभाव था, परंतु वह लोगों को अखरता नहीं था। क्योंकि तब यह सोचा जाता था कि जीवन उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिला है तथा शरीर निर्वाह के लिए न्यूनतम साधन जुटाने में संतोष करने के बाद अपनी क्षमताओं का उपयोग अच्छे उद्देश्यों के लिए किया जाना चाहिए और आदर्शवादी जीवन नीति अपनाने में गर्व-गौरव का अनुभव करना चाहिए, प्रसन्नता का आधार परमार्थ होना चाहिए। इन मान्यताओं को अपनाने और जीवनक्रम में उतारने के कारण ही हमारे महान पूर्वज अभावग्रस्त स्थिति में स्वर्गीय आनंद लेते रहे और साथ ही समस्त विश्व को अपने अजस्र अनुदानों से लाभान्वित करते हुए देव मानव कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सके।

इन दिनों साधन-सुविधाओं में अभिवृद्धि हुई है पर आस्थाओं का स्तर गिर गया है। आस्थाओं का संकट ही वर्तमान युग की प्रमुख समस्या है। इन दिनों आस्थाओं का दुर्भिक्ष है। यद्यपि समस्याएँ मुख्यत: आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रतीत होती हैं और उन्हीं क्षेत्रों में सुधार के लिए संघर्ष तथा आंदोलन किए जाते हैं। स्वास्थ्य बिगड़ने का कारण असंयम नहीं कीटाणुओं का आक्रमण माना जाता है। मनोरोगों का कारण हेय चिंतन नहीं स्वेच्छाचार पर प्रतिबंध समझा जाता है। आर्थिक समस्याओं का कारण श्रमशीलता का अभाव और अपव्ययी प्रवृत्ति को नहीं, पूँजी के असमान वितरण को बताया जाता है। आस्तिकता, आध्यात्मिकता का तत्त्वदर्शन

हृदयंगम कराया जा सके तो अपराधों की रोकथाम हो सकती है, पर इस सत्य की उपेक्षा कर समाधान पुलिस थानों, कचहरी और अदालतों में ढूँढ़ा जाता है। राजसत्ता को सुधार की जादुई छड़ी मानकर उस पर आधिपत्य करने के लिए महत्त्वाकांक्षी लोग लालायित हैं, पर यह कोई नहीं सोचता कि धर्मतंत्र को परिष्कृत करके उसके सहारे आस्थाओं का संकट और प्रस्तुत समस्याओं का निवारण-निराकरण किया जा सकता है।

इस तरह के सारे प्रयास उथले हैं। रक्त की विषाक्तता को दूर न करने पर फोड़े-फुंसियों का किसी भी तरह सही उपचार संभव नहीं है। उन पर पट्टियाँ बाँधना और दवाएँ लगाना लंबा कार्य है तथा परिणाम की दृष्टि से अनिश्चित और संदिग्ध भी। फिर भी इन्हीं उथले प्रयत्नों के बवंडर खड़े करने की घुड़दौड़ चलती है। यह तथ्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि जड़ को खोजे बिना उथले प्रयत्न कितने दिनों किस सीमा तक कितने सफल हो सकेंगे, यह जरा भी निश्चित नहीं है। हजार बार समझना और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि अपने युग की विभीषिकाओं का एकमात्र कारण अंत:करण में रहने वाली उच्चस्तरीय आकांक्षाओं आस्थाओं का अवमूल्यन ही है।

सड़ी कीचड़ और गंदी नाली में मच्छर-मक्खी, कृमि-कीटक, विषाणुओं और दुर्गंध के उभार उठते हैं। इनका निराकरण नाली में जमी हुई सड़न की धो डालना ही हो सकता है। आस्थाओं में जड़ जमाकर बैठी हुई निकृष्टता की तरह सुधार और परिवर्तन के सारे प्रयास निष्फल ही होते रहेंगे तथा उज्ज्वल भविष्य दिवास्वप्न की तरह कल्पना का विषय ही बना रहेगा।

बाह्य उपचार सर्वथा निषिद्धि नहीं हैं। वे होते हैं, 'और' होने चाहिए, किंतु उपचार का महत्त्व भी समझा जाना चाहिए। युग परिवर्तन का वास्तविक तात्पर्य अंत:करण में उत्कृष्टता का

पुनर्निर्धारण है। व्यक्तिगत और समाज क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं का निराकरण एक इसी उपाय से संभव है क्योंकि इसी क्षेत्र में गुत्थियों का निर्माण होता है और विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। खाद्य संकट, ईंधन संकट, सुरक्षा संकट की तरह आस्था संकट के क्षेत्र और प्रभाव को भी समझा जाना चाहिए। आस्था संकट इन सभी संकटों से कहीं अधिक गंभीर है। इसका समाधान किए बिना वर्तमान युग की समस्याएँ नहीं सुलझने की और इसका समाधान कर लिया गया तो इससे अधिक कुछ करने-कराने की आवश्यकता नहीं है।

यों सुधार और संवर्द्धन के बाहरी प्रयास भी चलने चाहिए किंतु ठोस बात तभी बनेगी जब समष्टि के अंत:करण में उत्कृष्टता की आस्थाओं का आरोपण अविवर्द्धन युद्धस्तरीय आवेश के साथ किया जाए। यह एक ही समस्या है और इसका एक ही समाधान है। मनुष्य भले ही इसे न समझ पाए पर महाकाल यथार्थता से अनभिज्ञ नहीं है। लोकमानस में आस्थाओं को पुनर्जीवित करने के लिए—अनास्था को आस्था में बदलने के लिए प्रज्ञावतार का प्रकटीकण होने ही जा रहा है।

सुविधा-संवर्द्धन के लिए शक्ति और साधन प्रचुर मात्रा में अर्जित किए जाने आवश्यक हैं। इनकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता और न ही इन्हें व्यर्थ बताया जा सकता है और उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए। सामर्थ्य पराक्रम के लिए आवश्यक है तो उपलब्धियाँ अर्जित करने के लिए उपकरण। शक्ति और साधनों का संवर्द्धन और संचय करने के लिए मनुष्य आदिकाल से सचेष्ट रहा है और जब तक पृथ्वी पर उसका अस्तित्व है, वह इनका संचय-संवर्द्धन करता ही रहेगा। यह अभीष्ट भी है, उचित भी और स्वाभाविक भी। किंतु यह तथ्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि शक्ति और सामर्थ्य का संचय-संवर्द्धन करने के साथ उसका उपयोग करने वाली चेतना का स्तर ऊँचा रहना चाहिए। चेतना का स्तर ऊंचा रहने की स्थिति में

ही समर्थता और संपदा का सदुपयोग बन पड़ेगा, इसके बिना बंदर के हाथ तलवार पड़ने की संभावना ही अधिक रहेगी।

दुर्बुद्धिग्रस्त और कुकर्मी व्यक्ति यदि शक्तिशाली हो तो वह विनाश के गर्त में और तेजी से गिरेगा। आग में ईंधन पड़ने से जैसे उसकी लपटें और भड़क उठती हैं। ईंधन न मिले तो बुझ भी सकती हैं। यही स्थिति अंतरंग में रहने वाली निकृष्टता की होती है। अभावग्रस्त स्थिति में तो वह फिर भी दबी रहती है। लेकिन शक्ति और साधन मिलने पर वह और अधिक खरा खेल खेलने लगती है। तब कुकर्मी का वैभव उसके स्वयं के लिए, संबंधित व्यक्तियों और समाज के लिए अभिशाप ही सिद्ध होता है। निस्संदेह दुर्बलता बुरी है पर दुष्टता उससे भी ज्यादा बुरी और भयानक है। अभावों के कारण उत्पन्न हुई दुर्बलता को कोई पसंद नहीं करता पर साधन संपन्न समर्थ दुष्टता जो विनाश करती है, वह देखकर तो रोमांच ही उत्पन्न होता है। संपन्नता और समर्थता बढ़ने का लाभ तभी है जबकि उन पर शालीनता का अक्षुण्ण और प्रखर नियंत्रण रहे।

प्रगति के नाम पर पिछले दिनों बहुत कुछ हुआ। उसे बढ़ाने के लिए अनेकों ने कुशलता और तत्परतापूर्ण प्रयास किए हैं। इस पुरुषार्थ की मुक्त कंठ से सराहना की जानी चाहिए। जिन पुरुषार्थियों ने प्रबल प्रयास करके सुविधा-साधन बढ़ाए हैं। उनके प्रयासों को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इतने पर भी यह अभाव तो अखरने जैसा ही है कि दूरदर्शिता, विवेकशीलता, उदारता, शालीनता जैसी सत्प्रवृत्तियाँ उपेक्षित हो रही हैं और उनका दिनोंदिन अभाव होता जा रहा है। उनकी उपयोगिता वैसी नहीं समझी जाती है जैसी कि समझी जानी चाहिए। निरंतर यही समझा और प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से समझाया जाता रहा कि भौतिक प्रगति ही सब कुछ है। साधन बढ़ जाने पर मनुष्य के सामने उपस्थित सभी कठिनाइयों का तुरत-फुरत समाधान हो जाएगा।

यह समझने और समझाए जाने से प्रकट होता है कि मनुष्य बुद्धिमान भी है और अदूरदर्शी भी। चेतना की उत्कृष्टता को उपेक्षित कर संपदा को ही सब कुछ मान लेने की भूल अदूरदर्शिता नहीं तो क्या है?

इतिहास इस बात का साक्षी है कि समर्थता प्राप्त करने वाले व्यक्ति यदि निकृष्ट स्तर के रहे तो वे अपने समय में सारे वातावरण को विक्षुब्ध करते रहे हैं तथा उनका वैभव असंख्य व्यक्तियों के लिए अभिशाप ही सिद्ध होता रहा है। इस तथ्य को आज भी चरितार्थ होते हुए देखा जा सकता है। संपन्न देशों के नागरिक उपलब्ध सुविधाओं का उपयोग किन उद्देश्यों में कर रहे हैं और इसका प्रमाण अमेरिका जैसे संपन्न देशों में देखा जा सकता है।

संपन्नता से सुविधा तो बढ़ सकती है पर उससे व्यक्ति के अंतरंग को ऊँचा उठाने में जरा भी सहायता नहीं मिली। परिणामस्वरूप भौतिक सफलता जिस स्थिति में ले जा पहुँचती है, उससे बड़ी निराशा ही होती है। व्यक्ति, समाज या राष्ट्र सभी पर यह तथ्य लागू होता है कि आदर्शवादिता बढ़े बिना बढ़ा हुआ वैभव संकट और विपत्तियाँ ही बढ़ाता है। आदर्शवादी उत्कृष्टता का अंकुश न रहने से बलिष्ठता उत्तम हाथी की तरह उच्छृंखल और मदोन्मत्त हो जाती है। सुंदरता, कामुकता एवं अहमन्यता की ओर धकेलती है। बुद्धि-कौशल छल-छद्म करने के काम आता है। वैभव से दुर्व्यसन बढ़ते चले जाते हैं और अधिकारों का उपयोग स्वार्थपूर्ति तथा दुर्बलों को दबाने, उनका शोषण करने के काम आता है। कला की शक्ति पशु-प्रवृत्तियों को भड़काने में लग जाती है।

इस स्थिति पर एक बार यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो ऐसा लगता है कि प्रगति की दिशा में दौड़ते हुए भी हम विनाश की ओर ही बढ़ रहे हैं। प्रश्न उठता है कि तब क्या प्रगति निरर्थक है? समर्थता और संपन्नता बढ़ने के लिए चल रहे प्रयत्न अनावश्यक हैं? इसका उत्तर हाँ में नहीं दिया जा सकता लेकिन यह भी तथ्य है

कि संपन्नता अचेतन है और समर्थता अंधी है। इन्हें भला या बुरा कुछ नहीं कहा जा सकता है। पदार्थ, पदार्थ है और बल, बल। उसमें क्षमता है पर इतनी योग्यता नहीं है कि वह स्वयं अपना उपयोग किसी प्रयोजन के लिए बनाता। अग्नि में उष्णता है लेकिन वह यह निर्णय नहीं कर सकती कि भोजन बनाएँ अथवा आग लगाएँ। यह कार्य तो कोई चेतन शक्ति ही कर सकती है।

पदार्थ प्रकृति की प्रेरणा मात्र अंगीकार करते हैं। उचित-अनुचित का निर्णय करना अथवा उसकी कल्पना करना उसके वश से बाहर की बात है। चेतना ही उन्हें विकास या विनाश के लिए नियोजित करती है। रेल, मोटर, जहाज आदि की गति-शक्ति सब जानते हैं पर कुशल ड्राइवर के संरक्षण में ही उपयोगी परिणाम प्रस्तुत कर सकते हैं। अन्यथा अनाड़ी चालक के हाथों पड़कर स्वयं नष्ट होने के साथ दूसरों को भी नष्ट कर डालते हैं।

प्रगति यदि एकांगी रही तो एक पहिए की गाड़ी के समान असंतुलन ही पैदा करती है। पक्षाघात से पीड़ित शरीर भारभूत ही लगता है। एक पैर मोटा और एक पतला चलने में बाधक बनता है। फूला हुआ पेट, सूजा हुआ चेहरा, रसौली, फोड़ा आदि होने पर अंग अपेक्षाकृत उभरे उठे हुए भले दिखाई दें, पर उस असंतुलन को न शुभ माना जा सकता है और न ही सुविधाजनक। जीवन के दोनों पक्ष हैं भौतिक और चेतना। इनका सम्मिलित ढाँचा सुसज्जित रहे तभी जीवन क्रम ठीक चलता है। अन्यथा एक के लड़खड़ाने पर दूसरा भी अपंग और असमर्थ हो जाता है। निष्प्राण काया तेजी से सड़ने लगती है तो शरीर रहित चेतना भूत-प्रेत जैसी विचित्र स्थिति में पहुँच जाती है। भौतिक प्रगति को लक्ष्मी कहा है और वह नारायण की सहचरी है। नारायण अर्थात आदर्श, आदर्श के साथ रहने में ही लक्ष्मी की शोभा है। भौतिकी और आत्मिकी का सह संतुलन ही ऋद्धि-सिद्धि के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

साधन रहित सद्भावना और सद्भाव रहित साधन की स्थिति अवांछनीय ही कही गई है।

बुद्धिवाद और प्रत्यक्षवाद ने पिछले दिनों जीवन के भौतिक पक्ष को ही सब कुछ माना और तत्त्वदर्शन के आधार पर प्रतिपादित हो सकने वाली उत्कृष्टता को अवांछनीय कहकर अमान्य ठहरा दिया। परिणामस्वरूप लोकमानस पर से आदर्शवादिता का नियंत्रण उठ गया। परिणामस्वरूप पशु-प्रवृत्तियाँ समर्थ होने पर कितनी घातक तथा उच्छृंखल हो जाती हैं, यह मदोन्मत्त हाथी, नरभक्षी शेर, श्मशान के पिशाच और जलाशय के मगर द्वारा किए जाने वाले विनाश को देखकर समझा जा सकता है।

उच्छृंलता, अराजकता और अनाचार के दुष्परिणाम का जो अनुमान लगा सकते हैं उन्हें यह भी जानना चाहिए कि चेतना पर से अंकुश हट जाने के कारण ही यह सर्वनाशी दावानल जैसी विभीषिका उत्पन्न होती है। शत्रु देशों द्वारा किए गए आक्रमण, देश के भीतर ही चलने वाले गृहयुद्ध, महामारी या दुर्भिक्ष आने के पूर्व ही उनसे जूझने के लिए जो सतर्कता और सक्रियता अपनानी पड़ती है उससे अधिक सावधानी चिंतन क्षेत्र में घुस पड़ने वाले स्वेच्छाचार के आधिपत्य के प्रति रखी जानी चाहिए।

पिछले दिनों मात्र भौतिक प्रगति के लिए ही सब कुछ किया जाता रहा। इसका कारण प्रत्यक्षवादी अदूरदर्शिता का आवेश रहा और सारी सक्रियता उसी दिशा में नियोजित होती रही, जबकि आवश्यक यह था कि उससे भी अधिक प्रयास चेतना को सुसंस्कृत बनाने के लिए किए जाएँ। शरीर से प्राण अधिक मूल्यवान है इसी प्रकार समृद्धि की गरिमा अधिक है। इस संदर्भ में जो एकांगी दृष्टिकोण अपनाया गया उसी की प्रतिक्रिया आज अनेक संकटों और विग्रहों के रूप में सामने प्रस्तुत है। जिस तत्परता से समृद्धि बढ़ाने का प्रयास किया गया उसी तन्मयता से सद्भाव उन्नयन के लिए भी प्रयास होने चाहिए थे।

आत्मा का महत्त्व शरीर से अधिक है, इसलिए समृद्धि की तुलना में संस्कृति को प्रमुखता मिलनी चाहिए और उसी अनुपात से लोकमानस को उत्कृष्टता से भरा-पूरा रखने वाले प्रयास चलने चाहिए थे। वर्षा का पानी नाली न मिलने पर भयंकर बाढ़ के रूप में विनाश लीला उत्पन्न करता है, यह दृश्य अपनी आँखों से देखते हैं, उसी प्रकार दुष्प्रवृत्तियों की बाढ़ से उत्पन्न हुई विनाश लीला भी अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखी जा सकती है।

यही वह समय है जिसमें कि भूल को सुधारा जा सकता है। अस्तु, दूरदर्शिता और शांत चित्त मन:स्थिति से यह विचार किया जाना चाहिए कि क्या इन भूलों का सुधार करने के लिए कुछ नहीं हो सकता? मानवी प्रखरता को समझने वाले यह भलीभाँति जानते हैं कि आकांक्षा और तत्परता जिस दिशा में भी लग जाए उसी दिशा में तूफान की गति से प्रगति होने लगती है। आज के साधन जहाँ विनाश का पथ प्रशस्त करते हैं, वहीं उनमें यह क्षमता भी विद्यमान है कि विकास की, पुनरुत्थान की दिशा में चमत्कारी परिणाम प्रस्तुत कर सकें।

रचनात्मक और सुधारात्मक गतिविधियों की व्यापक योजना बनाकर उसमें असंख्य सद्भाव संपन्न व्यक्तियों की श्रम साधना नियोजित की जा सकती है। समृद्धि-संवर्द्धन के लिए जिस स्तर पर सोचा जाता रहा है और उसके लिए साधन, श्रम तथा मनोयोग नियोजित होता रहा है, उसी तन्मयता और तत्परता के साथ यदि भावनात्मक उत्कृष्टता बढ़ाने के लिए प्रयास किए जाएँ तो निश्चित सफलता मिल सकती है। तन्मयता, रुचि और प्रयत्नों का अभाव ही वह कारण है जिससे असफलता मिलती है। यदि इन कारणों को दूर किया जा सके तो किसी भी क्षेत्र में प्रगति सहज संभव हो सकती है।

उत्कृष्टता संवर्द्धन के क्षेत्र में यह तथ्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है और ध्यान रखा जाना चाहिए वह जिस क्षेत्र में उत्पन्न होती है वह न तो

शरीर है और न ही मस्तिष्क। शरीर से नर्तकों, पहलवानों, श्रमदानियों, बालचरों, स्वयंसेवकों जैसे कुछ अभ्यास कराए जाएँ तो उससे काया भर सकेगी। मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने के लिए कितने ही पाठ्यक्रम चलते हैं, दृश्य दिखाए जाते हैं, अनुभव कराए जाते हैं और अनेकानेक प्रसंग सुनाए जाते हैं। साहित्य पढ़ने और प्रवचन सुनने का क्रम भी चलता है। पर इससे आस्थाओं के परिष्कार में कोई खास सहयोग नहीं मिलता।

पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि आस्थाओं का मर्मस्थल अंत:करण है। दृष्टिकोण के परिष्कार का प्रयास वहीं से होता है। इसके लिए उन आधारों को अपनाना पड़ेगा जो उच्चस्तरीय आस्थाएँ उत्पन्न करने में सफल हो सकें। इस क्षेत्र को स्पर्श करने में एक माध्यम सफल हो सकता है और वह है—अध्यात्म। अध्यात्म में चिंतन को तत्त्वदर्शन और व्यवहार को धर्म कहते हैं। दोनों को मिलाने से ही समग्र अध्यात्म बनता है। तत्त्वदर्शन को हृदयंगम करने का नाम योग तथा व्यवहार में उतारने का नाम तप है। योग को ब्रह्मविद्या और तप को साधना कहते हैं। इस प्रकार योग और तप ब्रह्मविद्या और साधना दोनों का समुच्चय होने पर मनुष्य का भावनात्मक कायाकल्प होता है और व्यक्ति क्षुद्र से महान बन जाता है।

गहन चिंतन द्वारा भी आस्थाएँ जगाई जा सकती हैं। लेकिन उसमें तर्क का समावेश रहने के साथ-साथ श्रद्धा भी जुड़ी रहनी चाहिए। केवल मात्र तर्क बुद्धि-विलास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चतुर वकील बहस द्वारा अपनी बातों को सिद्ध और प्रतिपादित करते देखे जा सकते हैं और उस बहस के कारण कई बार सच्चे लोग फँस जाते हैं तथा झूँठे छूट जाते हैं। इसका कारण वकीलों की वह प्रभावशाली बहस ही है, जिसके लिए वकील अपना सारा बुद्धि-कौशल लगा देता है। इसलिए मस्तिष्क को माध्यम मानते हुए, आस्थाओं का परिपालन करने के लिए, उन्हें उच्चस्तरीय

बनाने के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इस प्रयोजन के लिए तो एक ही अवलंबन समर्थ है और वह है—अध्यात्म।

ऋतंभरा प्रज्ञा अध्यात्म का प्राण है। इसी को गायत्री कहते हैं। विवेक और श्रद्धा दोनों का समन्वय ऋतंभरा प्रज्ञा में होता है। विवेक अर्थात—दूरदर्शिता, श्रद्धा अर्थात—उच्चस्तरीय आस्थाओं में उल्लास भरी साधना अभिरुचि। यह भाव संवेदनाएँ जिस चिंतन और जिस अभ्यास के द्वारा सुधारी जाती हैं, वही ऋतंभरा प्रज्ञा है। संक्षेप में इसे प्रज्ञा भी कहा जा सकता है। गायत्री मंत्र की अंतरात्मा को प्रज्ञा की प्रेरणा बताया गया है। यह तभी जीवंत होती है, जब उसमें प्रेरणा देने और प्रवाह उत्पन्न करने की क्षमता हो। गायत्री मंत्र में सब कुछ विद्यमान है। उसके २४ अक्षरों में बीजरूप से मान्यताओं, संवेदनाओं और प्रेरणाओं का सुनियोजित तारतम्य विद्यमान है। युग परिवर्तन के लिए लोकमानस को उच्चस्तरीय बनाने के लिए इस अवलंबन के अतिरिक्त ऐसा कोई कारगर उपाय नहीं खोजा जा सका जो मनुष्यों में देवोपम आस्थाएँ जगाने, प्रेरणाएँ उगाने और सक्रियता अपनाने के लिए अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचा सके।

उज्ज्वल भविष्य के निर्माण तथा प्रस्तुत विकृतियों का निवारण करने के लिए उच्चस्तरीय चेतना द्वारा उभयपक्षीय प्रयोजन संभव होने जा रहा है। प्रज्ञावतरण उसी के उदय और उद्भव का नाम है। इन दिनों इसी का अवतरण काल है। अरुणोदय की वेला सन्निकट है और नवप्रभात की संभावनाएँ प्रकट तथा प्रत्यक्ष होने जा रही हैं। विकृतियों और विपन्नताओं के अंधकार का निराकरण तथा प्रगति और उत्थान की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक ऊर्जा का संवर्द्धन जिस युग प्रभात में होने जा रहा है उसी को अपने समय का अवतार कहना चाहिए। सामान्य स्तर के मानवी प्रयास इतने बड़े प्रयास में कम न पड़ जाएँ, इसके लिए सूक्ष्म जगत में युग-चेतना का

विशिष्ट प्रादुर्भाव होने जा रहा है, युग समस्याओं के समाधान में प्रज्ञावतार महती और सफल भूमिका संपन्न कर सकेगा। यह इतना निश्चित है कि इसमें राई-रत्ती भी संदेह नहीं किया जा सकता।

प्रज्ञावतार का स्वरूप और कार्यपद्धति

अब तक हुए सभी अवतारों में सबसे निकटतम पूर्ववर्ती अवतार बुद्ध के बाद का अवतार या उस अवतार-प्रक्रिया का उत्तरार्द्ध प्रज्ञावतार है, जो इन दिनों संपन्न होने जा रहा है। आज का युग बुद्धि प्रधान है और बुद्धि प्रधान युग की समस्याएँ भी चिंतन प्रधान हो सकती हैं। मनुष्य की प्रेरणाओं का केंद्र मान्यताएँ, विचारणा तथा इच्छाएँ होती हैं और उन्हीं के प्रवाह में सारा समाज बहता है। ऐसे समय में अवतार का स्वरूप भी तदनुरूप ही हो सकता है। लोकमानस में घुस पड़ी विकृतियों को उलटने तथा अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़ मान्यताओं को निरस्त करने में विचार क्रांति ही सफल हो सकती है। चेतना को उत्कृष्टता की दिशा में घसीट ले जाने वाला और सामाजिक क्षेत्रों को समान रूप से प्रभावित करने वाला प्रवाह ही अपने समय का अवतार हो सकता है और वही हो भी रहा है। उसकी कार्यपद्धति भी बुद्धावतार के आदर्शों की तुलना में आज की बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल अधिक प्रखरता का समावेश करने वाली होगी। प्रज्ञावतार की संभावित कार्यपद्धति में इसका प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है।

अपने युग का प्रधान संकट आस्था संकट है। आस्थाएँ चेतना से संबंधित हैं। अत: अवतार का प्रधान कार्यक्षेत्र भी चेतना का ही होगा। उसी से विचारधाराएँ, मान्यताएँ और आकांक्षाएँ उखाड़ी तथा जमाई जाएँगी। इसके स्वरूप-प्रारूप का निर्धारण हो चुका है। गायत्री महामंत्र में उन सभी तथ्यों का समावेश है जो सद्भाव संपन्न आस्थाओं के निर्धारण एवं अभिवर्द्धन का प्रयोजन पूरा कर सकें। व्यक्ति का चरित्र, चिंतन और समाज का विधान प्रचलन क्या होना

चाहिए? इसका ऐसा सुनिश्चित निर्धारण इस महामंत्र में विद्यमान है, जिसे सार्वभौम और सर्वजनीन ही कहना चाहिए।

बुद्धि का उत्कृष्टतम स्तर विवेक है तो अंत:करण की श्रेष्ठतम उपलब्धि श्रद्धा है। विवेक उस बुद्धिमत्ता को कहते हैं जिसमें तर्क, तथ्य और दूर-दर्शन का समुचित समावेश हो। उत्कृष्ट आदर्शवादिता से अतिशय लगाव रखने और चिंतन तथा कर्तृत्व में उसका रसास्वादन करने, आनंद अनुभव करने वाली आस्था का नाम श्रद्धा है। विवेक और श्रद्धा जहाँ भी जितनी मात्रा में सम्मिलित रूप से विद्यमान रहेगी, वहीं उतनी ही महानता दृष्टिगोचर होने लगेगी। इन दोनों के सम्मिश्रण से प्राप्त उपलब्धियों के द्वारा ही सामान्य परिस्थितियों में जन्म लेकर, पाल-पोष कर बड़े हुए व्यक्ति ऐतिहासिक भूमिका निभाते रहे हैं।

श्रद्धा और विवेक के इस समुचित सम्मिश्रण का नाम ही 'ऋतंभरा प्रज्ञा' है, जिसे प्रज्ञा भी कहा जाता है। विश्व-निर्माण में असाधारण योगदान देने वाले व्यक्ति इसी प्रज्ञा शक्ति से संपन्न रहे हैं। अगले दिनों यह तथ्य और भी प्रत्यक्ष प्रकट होगा कि ऋतंभरा प्रज्ञा ही मनुष्य की सबसे बड़ी संपदा है, कथा-प्रवचनों में ब्रह्मविद्या के रूप में यों प्रज्ञा की बड़ी महिमा गाई-बताई जाती है, परंतु व्यवहार में उसे शायद ही कार्यान्वित किया जाता है। सामान्य जीवनक्रम में उसका समावेश नहीं के बराबर ही होता है।

जो बात व्यवहार में नहीं आती उसे कठिन या असंभव समझा जाता है। इसलिए किसी को कोई प्रेरणा प्रदान करनी हो तो उसके लिए अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करना ही कारगर रहता है। दूसरों को देखकर वैसा ही कुछ करने की प्रवृत्ति सर्वत्र व्याप्त है, भौतिक रूप से कुछ सोचने या निर्णय लेने की क्षमता किन्हीं-किन्हीं लोगों में ही होती है। दूसरों से अप्रभावित रहते हुए उच्चस्तरीय जीवन नीति अपनाने और उस पर अंत तक दृढ़ रहने का आत्मबल कभी-कभार ही मनस्वी व्यक्तियों में दिखाई देता है। क्योंकि प्रज्ञा के माहात्म्य की

चरचा करना जितना आसान है, उसे अपनाना उतना ही कठिन है। कारण यही है कि अनगढ़ प्रचलनों से भरे वातावरण में अनुकरणीय आदर्शों के उदाहरण न मिलने से लोग उस दिशा में कदम उठाने से हिचकते हैं। यह डर ही वह बाधा है, जो प्रज्ञा को अपना कर मंगलमय जीवनक्रम अपनाने से रोकता है।

और सबसे बड़ा कारण तो अश्रद्धा है। आदर्शवादी उत्कृष्टता की अवमानना, उपेक्षा का नाम अश्रद्धा और व्यक्तियों, क्रियाओं या देव-भूत के प्रति अतिरिक्त विवेकरहित श्रद्धा को अंधश्रद्धा कह सकते हैं। अश्रद्धा और अंधश्रद्धा का यह अर्थ समझ लेने के बाद उससे होने वाली लाभ-हानि को भी सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

किसी भी वस्तु, परिस्थिति या वातावरण के गुण, लक्षण तथा प्रभाव दो ही तरह के हो सकते हैं, भले या बुरे। जो भला नहीं है उसे बुरा होना चाहिए और जो बुरा नहीं होगा उसे भला होना चाहिए। जब दिन नहीं होता तो रात होती है और जब रात नहीं होती तो दिन होता है। अंधकार और प्रकाश के मध्य कोई रेखा नहीं है। अश्रद्धा की प्रतिक्रिया, चिंतन की भ्रष्टता और आचरण की दुष्टता भयावह रूप धारण करती है और श्मशान में होने वाले भूत-पिशाचों जैसा जीवन-क्रम तथा वातावरण, विनिर्मित करती हैं। बुद्धिवाद के नाम पर पनपी भ्रांतियों तथा धर्म-क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों के रूप में इन दिनों अश्रद्धा की अराजकता व्याप्त है। इसका परिणाम भी सामने है, मनुष्य क्रमशः नर-पशु, नर-कीट और नर-पिशाच बनता जा रहा है तथा पतन के गर्त में गिरता चला जा रहा है।

चतुर लोग भोले लोगों को अंध श्रद्धा के रस्से में बाँधकर ही अनुपयुक्त मान्यताओं के गर्त में धकेलते और उसे भ्रांतियों के जंजाल में उलझाकर भूल-भूलैयाओं में भटकाते हैं। इसी प्रकार निहित स्वार्थों का व्यवसाय अंधेर नगरी जैसा चलता है और जितना यहाँ सफल होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। बौद्धिक अपंगता और

भीरुता दोनों मिलकर एक ऐसा दल-दल मचाती हैं जिसमें ज्योतिष, जादू-टोना, तंतर-मंतर और भूत-पलीत से लेकर सामाजिक कुरीतियाँ जैसी विकृतियाँ पल्ले बँधती हैं तथाकथित प्रगतिशीलता अश्रद्धा में और पिछड़ी पिछड़ाई मन:स्थिति अंधश्रद्धा में भटकती है, इन्हीं दोनों ने मिलकर आस्था संकट उत्पन्न किया है तथा चेतना की क्षमता को अनर्थ में धकेलकर निरर्थक बनाने की दुरभिसंधि रची है। इन दोनों के कारण भटकी और बौराई मनुष्य जाति को अभिशप्त स्थिति में रहना-सहना पड़ रहा है।

प्रज्ञा युग में श्रद्धा को मानवी अंतरात्मा में प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलेगा। इस उपलब्धि से जो जितना संपन्न होगा उसे उसी अनुपात में अपने दृष्टिकोण तथा आचरण का स्तर ऊँचा उठाने का सुअवसर प्राप्त होगा। कहना नहीं होगा कि इसी सौभाग्य के सहारे व्यक्तित्वों में प्रखरता होती है और भौतिक सफलताओं से लेकर आत्मिक विभूतियों की अनेकानेक सुसंपन्नताएँ उपलब्ध होती हैं। आत्मकल्याण और लोक-कल्याण के रूप में जीवन की सार्थकता केवल श्रद्धालुओं को ही प्राप्त होती है।

श्रद्धालु व्यक्ति अपने को आत्मा मानता है और उसके संतोष तथा कल्याण के लाभ को प्रधानता देता है। उसके लिए शरीर मात्र वाहन और उपकरण भर होता है, जिसके भरण-पोषण का समुचित ध्यान रखते हुए भी वह शरीराभ्यास की कीचड़ को कृमि-कीटकों के समान आत्मसात नहीं करता। वह इंद्रियों की अनुभूति क्षमता से जीवनचर्या में सहयोग तो लेता है। पर ऐसी स्थिति नहीं आने देता कि इंद्रियाँ ही उसका अधिपति बन बैठें और उन्हीं की माँग-पूर्ति में शारीरिक तथा मानसिक संतुलन ही नहीं, अपितु नीति-मर्यादा तक को गँवाना पड़े। श्रद्धालु मस्तिष्क की लगाम थामे रहता है तथा उन्हें उच्छृंखल घोड़े जैसा आचरण नहीं करने देता।

मनुष्य का मानसिक संतुलन प्रायः गड़बड़ाता, रहता है। मनःशास्त्री इसका चाहे जो कारण समझें पर वास्तव में संग्रह की तृष्णा, बड़प्पन की अहंता, स्वजनों में आसक्ति, उपयोग की लिप्सा, ईर्ष्या, द्वेष और मदमत्सर जैसी व्याधियाँ तथा दिशाहीन भटकन जैसी वितृष्णा ही मनुष्य का मानसिक संतुलन डगमगाती बिगाड़ती है। तज्जनित उद्विग्नता अनेकानेक प्रकार से मनःक्षेत्र को विक्षुब्ध बनाए रहती है। सुदृढ़ मुखमंडल भी तनाव और खीझ के कारण विकृत होकर कितना विद्रूप तथा कुरूप हो जाता है, यह सभी जानते हैं। शारीरिक रोग मनुष्य को जितना त्रस्त करते हैं, यह स्थिति उससे कहीं अधिक दुखदायी होती है। इसका समग्र उपचार, मूल सहित निराकरण केवल श्रद्धा के द्वारा ही संभव होता है। इस उपचार के बाद अर्जित गुण ग्राहकता, सौंदर्य दृष्टि, विधायक चिंतन, उदार आत्मीयता और अभिनेता जैसी मनःस्थिति बन जाती है। फलतः हर स्थिति में जी हलका रहता है और हलकी प्रफुल्ल मनःस्थिति रहने पर सभी गुत्थियों के समाधान तथा प्रगति के उपाय सही रूप में संभव होते हैं। इसी कारण श्रद्धालु को मनीषी कहा जाता है, क्योंकि उसमें सौजन्यता और सौमनस्य की दो ऐसी विशेषताएँ रहती हैं जो मस्तिष्क में विवेक की प्रतिष्ठा करती हैं।

संयम और अनुशासन से शरीर स्वस्थ तथा दीर्घजीवी बनता है। यह श्रद्धा का ही परिणाम है। इससे सद्विचारणा और सद्भावना का अभ्यास होता है फलतः सामान्य मस्तिष्क ऋषिकल्प मेधा से भरा रहता है। वे चंदन के समान महकते और वातावरण में शीतल सुवास फैलाए-बनाए रहते हैं। चिंतन को उपयुक्त दिशाधारा मिलने से उनके क्रिया-कलाप उत्कृष्टता से परिपूर्ण होते हैं। परिणामस्वरूप उस स्तर की सफलता मिलती है, जिसे सामान्य वरदान अथवा चमत्कार की संज्ञा दी जाती है।

श्रद्धा आत्मीयता और सुव्यवस्था के रूप में परिणत होती है तथा परिवारों में आनंद और उत्साह, सहयोग और सौजन्य का वातावरण बनाए रहती है। जिन कुटुंबों में ऐसा वातावरण रहेगा उन्हीं में श्रेष्ठ नागरिक और नर-रत्न पैदा होते हैं। धन से तो केवल सुविधाएँ जुटाई जा सकती हैं, वैभव और विलासिता के साधन बनाए जा सकते हैं, पर उससे अहंकार के उद्धृत बनने के अलावा कुछ नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में विकृत व्यक्तित्व ही जन्म लेते और पलते हैं। ऐसे कुटुंब भेड़ों को बंद करने वाले बाड़े की तरह दीखते भले ही एक हों पर उनमें पारस्परिक सद्भाव और उपयुक्त वातावरण का अभाव ही रहता है। ऐसे कुटुंब बनाने या पालने की अपेक्षा एकाकी रहकर अधिक सुखी जीवन व्यतीत किया जा सकता है।

श्रद्धातत्त्व को अपनाकर ही कुटुंब आत्मीयता के सूत्र में बाँधे जा सकते हैं। ऐसे परिवारों का वातावरण गरीबी में भी अमीरों से अधिक संतोष प्रदान करता है। पति-पत्नी में, भाई-बहन में, माता-पिता और संतानों में आत्मीयता उदारता भरी सेवा संवेदनाएँ मचलती रहें इसी पर कुटुंब का आनंद और उत्थान टिका हुआ है। यदि उनमें से श्रद्धातत्त्व हटा दिया जाए तो कुटुंबियों के बीच आपा-धापी, स्वार्थपरता, खींचतान, उठा-पटक, रोष-प्रतिशोध, घृणा-द्वेष की ऐसी दुरभिसंधि—चलने लगती है कि घर का वातावरण नरक-तुल्य हो जाए। अस्तु, श्रद्धातत्त्व से अतिरिक्त परिवार संस्था की गरिमा न बढ़ सकती है और न स्थिर ही रह सकती है।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि धन दुधारी तलवार है। उसका सदुपयोग हो सके तो व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण है और यदि दुरुपयोग होने लगे तो बड़ी संपदा के कारण हर प्रकार से हानि ही हानि होती है। बढ़ी हुई संपन्नता दुर्व्यसन बढ़ाती, दुर्गुण पनपाती तथा कुकर्म करवाती है, यदि धन का सदुपयोग न किया जाए तो

धन एक शक्ति है और शक्ति का उपयोग सृजन अथवा विनाश किसी भी प्रयोजन में किया जा सकता है। धन भी यदि दुर्बुद्धि के हाथ पड़ गया तो उसका उपयोग अनाचार एवं विनाश के लिए होने लगता है। अंत:करण में यदि श्रद्धातत्त्व रहे तो धन का उपार्जन और उपयोग पूरा-पूरा सावधानी के साथ होता है और यदि उपार्जन स्वल्प भी होता है तो उतने से ही धनवानों जैसी सुविधा के साथ काम चल सकता है। एक तो कठोर परिश्रम और ईमानदारी के साथ कमाने का आत्मसंतोष, दूसरे कमाई का योजनापूर्वक उपयोग। श्रद्धातत्त्व के समन्वय से मितव्ययता, सादगी, श्रमशीलता और ईमानदारी जैसे सद्गुण उद्गत होते हैं जिनके परिणामस्वरूप उन्हें अपने अर्जन और यापन के स्तर में ही गर्व तथा गौरव का अनुभव होता है।

इस गर्व और गौरव, संतोष और शांति का अनुभव करने का एकमात्र उपाय श्रद्धा ही है। ऐसे श्रद्धालु व्यक्ति न तो ठाठ बनाते हैं और न ही संतान की संख्या बढ़ाकर अनावश्यक भार वहन करने की मूर्खता बरतते हैं। ऐसे लोग सीमित आजीविका रहते हुए भी दूसरों की सहायता कर सकते हैं, क्योंकि वे जो कुछ अर्जित करते हैं उसे श्रमपूर्वक कमाते हैं और मितव्ययतापूर्वक खरच करते हुए आर्थिक तंगी से तो मुक्त रहते ही हैं, उस सीमित आय में से भी थोड़ा-बहुत बचा लेते हैं। सौम्य निर्वाह मात्र के साधनों से संतुष्ट रहने वाला न तो दरिद्री होता है और न दुर्व्यसनी, कुकर्मी। धनसंग्रह का परिणाम महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण उसके औचित्य की मर्यादा का निर्धारण और निर्वाह है। उपार्जन केवल उपयोग में ही न लगे, वरन उससे पिछड़ेपन को दूर करने, असमर्थों को सहायता देने और सत्प्रवृत्तियों को सींचने का तथ्य भी जोड़े रखना चाहिए। अर्थक्षेत्र में समाविष्ट रहने वाली श्रद्धा ही इन तथ्यों को देखती और अपनाती है तथा सामान्य स्थिति में भी उदार दानशीलता अपनाकर

चलती है। अन्य क्षेत्रों की तरह अर्थक्षेत्र में भी प्रज्ञावतार की प्रेरणा श्रद्धा का समन्वय करेगी।

व्यक्तियों में भरी हुई निकृष्टता ही सामाजिक क्षेत्र में अनैतिकता, कुरीतियाँ, मूढ़ मान्यताएँ और अन्यान्य बुराइयाँ उत्पन्न करती है। क्योंकि समाज का अलग से कोई अस्तित्व नहीं है, अंततः वह व्यक्तियों का ही समूह है। अस्तु, श्रेष्ठ नागरिकों के बिना उन्नत समाज बन ही नहीं सकता। प्राचीनकाल में समाज व्यवस्था पंचायतें ही बनाती थीं। आजकल तो वह शासनसत्ता के हाथ में सिमटकर चली गई है। पंचायतों का कार्यक्षेत्र केवल छोटे-मोटे झगड़े निपटाने अथवा सफाई जैसी छिटपुट व्यवस्था बनाने तक ही सीमित रह गया है।

अपराधों को रोकने के लिए शासन के कानून बने हैं। सत्परंपराओं को प्रचलित करने की न तो उनमें सामर्थ्य है और न आकांक्षा। सुरक्षा, शिक्षा, चिकित्सा, उद्योग और परिवहन जैसे कार्यों की साज-सँभाल भी उसके नियंत्रण से बाहर होती है। उद्योगों में सहकारिता और पाठ्य-पुस्तकों में नीति-शिक्षा जोड़ने और रेडियो टेलीविजन पर कुछ प्रचार कर देने जैसे प्रयास ही शासन द्वारा वर्तमान स्थिति में बन पा रहे हैं। पंचायतें भी शासन का एक अंग बनकर रह गई हैं और भौतिक प्रयोजनों की ही थोड़ी-बहुत देखभाल कर पाती है।

ऐसे तंत्र का अभाव है जो जनमानस में आदर्शवादी आस्थाओं को उभार सके और ऐसा वातावरण बना सके जिसमें दुष्प्रवृत्तियों को सहन करने तथा समर्थन देने वालों को लोकमत के तिरस्कार का भाजन बनना पड़े। यही कारण है कि इन दिनों समाज व्यवस्था लड़खड़ा गई है। आवश्यकता इस बात की है कि न्याय और औचित्य का समर्थन तथा अनीति, उच्छृंखलता का विरोध-उन्मूलन करने वाली प्रखरता जन-जन में उत्पन्न हो। स्वस्थ समाज की संरचना तभी संभव है जब व्यक्ति के निजी जीवन में आदर्शवादिता अपनाने की उत्कृष्ट श्रद्धा बनी रहे, इसके बिना वह अवांछनीय

तत्त्वों का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन करेगा, अथवा हेय परंपराओं से जूझने के स्थान पर उनके समर्थन का ही उपक्रम करेगा।

वस्तुस्थिति को समझने के उपरांत एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था आवश्यक प्रतीत होने लगती है जो सामाजिक परंपराओं और व्यक्तिगत आदर्शों को उत्कृष्टता की दिशा में अग्रसर कर सके और औचित्य के विरुद्ध असहयोग एवं विरोध का वातावरण बना सके। ऐसे समाज की संरचना अध्यात्म-दर्शन एवं धर्म प्रचलन जैसे उच्चस्तरीय आदर्शों के लिए समर्पित संगठनों द्वारा ही हो सकती है। व्यक्ति के अंतराल को स्पर्श कर उसमें सदाशयता का बीजारोपण करने से ही देव समाज की कल्पना करने तथा तदनुरूप ढाँचा खड़ा कर सकने की संभावना साकार हो सकती है। समाज में सत्परंपराओं का प्रचलन सृजन पक्ष है और दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन निषेध पक्ष। धर्मतंत्र की संगठना ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति और समाज के अंतराल को झकझोर कर उत्कृष्टता की दिशा में चल सकने की भावना और क्रिया दोनों को एक साथ अपना सके।

धर्म का व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन और क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदिम काल से लेकर आधुनिक काल तक के तमाम प्रतिपादनों में परिस्थितियों के अनुरूप धर्मतत्त्व का समावेश होता रहा है। यह आत्मा की आवश्यकता है और अंत:करण की पुकार, जिसका न तो बुद्धिवाद दमन कर सकता है और न प्रत्यक्षवाद या उपयोगितावाद ही। ईश्वर को मानने वाले और न मानने वाले दोनों ही धर्म की-कर्त्तव्य की—उत्कृष्टता की आवश्यकता समान रूप से अनुभव करते हैं। नवयुग की सृजन योजना में भी धर्मधारणा को प्रमुखता देने से ही काम चलेगा। देव समाज की परिकल्पना को मूर्तिमान करने के लिए धर्म-कर्म की पवित्रता तथा प्रखरता और संगठना, तीनों ही पक्ष उच्चस्तरीय होने चाहिए। इस आवश्यकता को जिस दिन गंभीरतापूर्वक समझा जाएगा उसी दिन उज्ज्वल भविष्य आरंभ हो जाएगा।

व्यक्ति और समाज के सामने अनेकों समस्याएँ तथा विपत्तियाँ खड़ी दिखाई देती हैं और वे परिस्थितिजन्य लगती हैं। उनके उपाय भी उसी स्तर के रहते हैं। गरीबी, बीमारी, अशिक्षा, अपराध जैसे बड़े कारण ही जन-नेताओं के मस्तिष्क पर छाए रहते हैं और उन्हीं के निराकरण का उपाय किया जाता है। सारी शक्तियों का केंद्र शासन सत्ता समझी जाती है। अत: उसे हथियाने और उस आधार पर गुत्थियों को सुलझाने में मूर्द्धन्य वर्ग का सारा ध्यान और प्रयास केंद्रित रहता है। गुत्थियों को सुलझाने की वर्तमान पद्धति यही है। इससे अधिक न तो कुछ सोचा जाता है और न ही किया जाता है। जो हो रहा है, होता रहा है वह कम नहीं है पर गुत्थियाँ हैं कि सुलझने के बजाय उलझती जा रही हैं। एक जगह जोड़ने पर और दस जगह फटने की स्थिति आ खड़ी है। चिरकाल से यही क्रम चल रहा है, बार-बार परखा जाता और अपनाया जाता रहा है फिर भी निराशा और व्यग्रता ही हाथ लगती है।

आज उपाय ढूँढ़ा जाए अथवा हजार वर्ष बाद, आज प्रयत्न किए जाएँ या शताब्दियों के बाद, उससे कुछ बनने-बिगड़ने वाला नहीं है। व्यक्ति और समाज के सामने खड़ी अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों तथा विभीषिकाओं का हल निकलेगा तभी जब मानवी अंत:करण में उत्कृष्ट आस्थाओं के बीजारोपण का प्रयास तत्परता के साथ संभव हो सकेगा। इसके लिए न राजतंत्र से काम चलेगा और न अर्थतंत्र से। यह कार्य मात्र धर्मतंत्र द्वारा ही संभव है, वही इसमें समर्थ है, धर्म का कलेवर इन दिनों विद्रूप हो गया है, यह सच है, किंतु यह भी सच है कि भावनात्मक नवनिर्माण के लिए इसे परिष्कृत, प्रखर और सुनियोजित बनाने के अलावा कोई उपाय नहीं। अर्थतंत्र संपदा को, चिकित्सा तंत्र शरीर को, शिक्षातंत्र मस्तिष्क को और शासनतंत्र व्यवस्था को प्रभावित कर सकते हैं, पर अंत:करण को प्रभावित करने में केवल धर्मतंत्र ही सक्षम है।

टूटे को सुधारा जाए अथवा उसका फिर से निर्माण किया जाए, यह अलग बात है। मूलभूत तथ्य यह है कि विपत्तियों से छुटकारा पाने और उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने में धर्मतंत्र की सहायता मिले बिना काम नहीं चलने का। यहाँ आशय शब्द से नहीं, विवेचना से है। किसी को धर्म शब्द से आपत्ति हो तो शब्दकोश से दूसरे शब्द ढूँढ़े जा सकते हैं और उन्हें संतोष कराया जा सकता है। पर करना वही होगा जिससे व्यक्ति और समाज की अनेकानेक दिशाधाराओं को प्रभावित करने वाले अंत:करण को उत्कृष्टता की संपदा से सुसंपन्न बनाया जाए और मानवी संस्कृति का अवमूल्यन रोका जाए।

श्रद्धा और विवेक के समन्वय का दृष्टिकोण ही आधारभूत तथ्य बने तभी यह उद्देश्य पूरा हो सकता है और यही प्रज्ञावतार का प्रयोजन है। जन-जन की आस्थाओं को अध्यात्म के आधार पर और आदतों को धर्मधारणा के माध्यम से परिष्कृत करना ही प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र है। उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा-संवर्द्धन उसका प्रमुख कार्यक्रम है। यह गतिचक्र जिस तेजी से परिभ्रमण करेगा, उतना ही तेजी से नवयुग की वेला समीप आती जाएगी।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि श्रेष्ठ और सहृदय व्यक्तित्व वाह्य साधनों से विनिर्मित नहीं हो सकता। अभ्यास और शिक्षण में उथला शिष्टाचार ही पल्ले पड़ता है। गहराई तो अंत:श्रद्धा से ही उपजती है। पेड़ उतना ही ऊँचा उठता है और उतना ही फैलता-फलता है जितनी उसकी जड़ें गहरी और मोटी होती हैं। यद्यपि जड़ें नहीं दीखती हैं, तना ही दृष्टिगोचर होता है फिर भी तथ्य तो तथ्य ही है। जड़ों के आधार पर ही तना वृक्ष स्थिर रहता है। उथली जड़ों वाले पौधे न स्थिर रह पाते हैं और न ही प्रतिकूल प्रभावों को सहन कर सकते हैं। इसी प्रकार उथली मन:स्थिति के लोग पिछड़ी और उथली जिंदगी ही जी पाते हैं। आत्मसंतोष, जनसम्मान और दैवी अनुग्रह दे सकने जैसी कोई ठोस संपदा उनके पास नहीं होती, फिर

मूल्य चुकाए बिना बड़ी उपलब्धियाँ किस प्रकार किस आधार पर अर्जित की ज़ा सकती हैं? व्यक्ति के अंतराल में सन्निहित उसकी मूलभूत क्षमता एक ही है—श्रद्धा, उसी को गँवाने और बढ़ाने पर मनुष्य पतन के गर्त में गिरता अथवा आकाश तथा पाताल जितना ऊँचा उठता है।

नवयुग में सारे संसार का, सारे समाज का संपूर्ण ढाँचा ही बदल देने की योजना है। निकृष्टता के आवरण उघाड़े और उत्कृष्टता के आच्छादन चढ़ाए जाने हैं। परिस्थितियाँ बदलने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की योजना है और उसका निर्माण अंतराल के मर्मस्थल से भाव-श्रद्धा के रूप में फूटता है। परिवर्तन शब्द कहने और सुनने में सरल होता है, वह रुचिकर भी है और अभीष्ट भी। किंतु कठिनाई एक ही है कि लगभग असंभव नहीं तो अत्यधिक कष्ट-साध्य इस कार्य के लिए साधन जुटाना होता है। इसके लिए पहाड़ जैसा पुरुषार्थ एवं परिश्रम करना पड़ता है।

परिवर्तन का अभीष्ट प्रयोजन पूरा करने के लिए आदर्शवादी श्रद्धा उथले स्तर की नहीं गहन स्तर की चाहिए। यह न तो समाज में, न साधनों में, न श्रम में और न चातुर्य में सन्निहित है। यह मणि-माणिक व्यक्तित्व के गहन अंतराल में समुद्र की तली में पाई जाने वाली संपदा है। यही समर्थता का वह भंडार है जो अनिवार्य रूप से प्रचुर परिमाण में उत्पन्न किया जाना चाहिए। नवयुग श्रद्धायुग कहा जाएगा और उसमें न संपदा का, न समर्थता का, और न ही साधनों का मूल्यांकन होगा। अपितु श्रद्धा का ही मूल्यांकन किया जाएगा। कौन क्षुद्र है और कौन महान इसका मापदंड श्रद्धा ही होगी। इसी सामर्थ्य के बल पर लोग इतने समर्थ होंगे कि पर्वत जैसी अवांछनीयताओं को उलट सकने और स्वांति वर्षा जैसी सत्प्रवृत्तियों से नंदनवन जैसा समाज बन सकना संभव हो सकेगा। समर्थ व्यक्ति ही ऐसे चमत्कार उत्पन्न कर सकते हैं। जिन्हें असंभव को संभव

कर दिखाने जैसा चमत्कार माना जा सके, ऐसा चमत्कारी मनुष्य एक ही हो सकता है—श्रद्धालु।

कहा जा चुका है कि विवेक और श्रद्धा का समन्वय ऋतंभरा प्रज्ञा है। वही गायत्री, वही ब्रह्मविद्या अथवा संस्कृति की अंतरात्मा है। इन दिनों उसी का अरुणोदय प्रज्ञावतार के रूप में हो रहा है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिए कि लोकमानस में विवेकयुक्त श्रद्धा की प्राण-प्रतिष्ठा होने जा रही है। इसी विभूति से संपन्न मनुष्यों को प्राचीनकाल की तरह देवमानव कहा जाएगा। उनका समुदाय और आदर्शवादी क्रिया-कलाप धरती पर स्वर्ग की परिस्थितियों का सृजन करेगा। यही है नवयुग का आधार तत्त्व, जिसे प्रचुर परिमाण में बरसाने के लिए महाकाल का प्रबल पुरुषार्थ अदृश्य रूप से अंतरिक्ष में कटिबद्ध हो रहा है। इस तथ्य को देखने और समझने वाले नवयुग को सन्निकट देख सकते हैं।

जाग्रत आत्माओं की भूमिका

स्पष्ट किया जा चुका है कि आस्था संकट ने ही अपने युग का असंतुलन उत्पन्न किया है। इसलिए निवारण का केंद्रबिंदु भी आस्था क्षेत्र ही होना चाहिए। इन दिनों ऐसा ही भावनात्मक प्रवाह जनमानस में उत्पन्न होना है जिसके कारण यह प्रमाण परिचय मिलने लगे कि श्रद्धातत्त्व की अभिवृद्धि का दौर चल पड़ा है और आदर्शवादी गतिविधियों का क्रम आरंभ हुआ है। व्यावहारिक जीवन में आदर्शवादिता का समावेश करा पाना पहले किन्हीं संत-महात्माओं का ही काम माना जाता था। नए युग में प्रज्ञावतार से जन-जन में यह चेतना उत्पन्न होगी कि उसे अपने जीवन क्रम में अधिकाधिक मात्रा में धारण किया जाना चाहिए। आदर्शवादिता न तो अव्यावहारिक है और न असंभव। बल्कि इसे अपनाने के लिए अभीष्ट मात्रा में साहस सँजोना भर आवश्यक होता है। संकीर्ण स्वार्थपरता तक ही सीमित इच्छा और चेष्टा की

नए सिरे से समीक्षा कर, उसमें भरी हुई क्षुद्रता हटाकर उस स्थान पर महानता की स्थापना के लिए कुछ कदम आगे बढ़ाए जाएँ, इतना मात्र आवश्यक है। फिर तो व्यक्ति आदर्शवादी मार्ग पर बढ़ता ही चला जाएगा।

लोभ, मोह और अहंकार के दैत्य ही आमतौर पर जन-साधारण को कठपुतली की तरह नचाते हैं। यही प्रभाव सर्वत्र चल रहा है। इन दिनों धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित सभी कोई अपने तुच्छ स्वार्थों की सिद्धि में बुरी तरह उलझे हुए हैं। लोक चेतना, लिप्सा और लालसा की कीचड़ में गहराई तक उलझी हुई है। इसमें सामान्य प्रयत्नों से हेर-फेर होता दिखाई नहीं पड़ता। प्रज्ञावतार की प्रेरणा ही इसके लिए नए आयाम प्रस्तुत करेगी और अंतःप्रेरणा का उद्गम ही बदलने लगेगा और लोग उत्कृष्टता की ओर अपना स्तर उठाने तथा आदर्शवादिता को अपनाने के लिए प्रयत्न करेंगे। यह परिवर्तन बाहर से थोपा हुआ नहीं, अपितु भीतर से उभरा हुआ होगा।

कहने-सुनने को तो धर्म और अध्यात्म की—भक्ति और शांति की—सज्जनता और उदारता की चर्चाएँ आएदिन होती रहती हैं। लोगों के लिए यह विनोद का विषय भी होता है और समय काटने के लिए भी अनेक इसकी चर्चाएँ करते रहते हैं। तथाकथित धर्मगुरु, लोक नेता, लेखक, वक्ता, उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की बातें करते रहते हैं, किंतु विरले लोग ही इन्हें क्रियान्वित करते देखे जा सकते हैं, फिर सर्वसाधारण के लिए उन्हें आचरण में उतारना और भी कठिन हो जाता है। जब इसका कोई उदाहरण ही न मिले तो अनुकरण करने के लिए कौन तैयार होगा? अपने समय की मूल कठिनाई यही है। बाहरी उपचार के रूप में तो प्रचार-प्रक्रिया ही अपनाई जा सकती है। यह प्रक्रिया चल भी रही है लेकिन सफल इसलिए नहीं होती कि लोक चेतना की अंतःस्थिति

को स्वीकार कराने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। कानों से सुनने अथवा मस्तिष्क से समझ लेने मात्र से बात नहीं बनती। व्यक्ति की स्थिति और आकृति बदलती है तो भाव अंत:प्रेरणा से ही। वही क्षेत्र बंजर हो जाने से इन दिनों जो कुछ बोया जाता है, वह निष्फल और अनंकुरित हो जाता है।

इस कठिनाई का समाधान प्रज्ञावतार करेगा, तब भीतर से अंत:प्रेरणा को झकझोरकर दिशा बदलने जैसी स्थिति उत्पन्न होगी। परिणामस्वरूप वह प्रयोजन सरलतापूर्वक पूरा होने लगेगा जिसके लिए प्रशिक्षण, प्रेरणा, प्रोत्साहन और दमन जैसे सभी उपाय इन दिनों किए जा रहे हैं, किंतु सफल नहीं होते।

उच्चस्तरीय भाव-संवेदनाएँ उसी स्थिति में उत्पन्न नहीं होतीं जबकि अंत:करण मूर्च्छित होता है। मूर्च्छित अंत:करण में ही धर्मधारणा के बीजांकुर नहीं जमते हैं। इस कठिनाई के निराकरण का मार्ग किसी को नहीं सूझता, परिणामत: इस दिशा में किए जाने वाले सारे प्रयास असफल होते हैं तो दैवी प्रयास बागडोर अपने हाथ में सँभालते हैं। प्रज्ञावतार की प्रेरणा से यही कठिनाई हल होगी। उसके प्रभाव से लोग अपने भीतर नई उमंगें उठती अनुभव करेंगे, मस्तिष्क में उत्कृष्टता के प्रति रुचि उत्पन्न होने लगेगी, शरीर सत्कर्मों में रस लेना आरंभ कर देगा। इसी रूप में युग परिवर्तन के बीजांकुर फूटेंगे, इस शुभारंभ के प्रवर्तन का श्रेय सदा सुसंस्कारी जाग्रत आत्माओं को मिलता है। वही पहल करते हैं और सामान्यजन समस्यानुसार उसका अनुगमन तथा अनुकरण करने का साहस जुटाते हैं। सेनापति तत्पर होते हैं तभी सैनिक युद्ध मोरचे की ओर बढ़ते हैं। श्रेष्ठ सुसंस्कारी आत्माओं में से प्रज्ञावतार द्वारा नियुक्त हुआ सेनापति कहा जा सकता है, जिनके नेतृत्व में सर्वसाधारण अभीष्ट परिवर्तन के लिए आगे बढ़ते हैं।

जाग्रत आत्माओं की संख्या इन दिनों कम है पर जितनी भी है, उन्हीं से आरंभ होना है। सर्वप्रथम उन्हें ही आभास दर्शन होगा और वे ही स्वयं की प्रेरणा से अपने आप को बदलने का साहस प्रदर्शित करेंगे। उनकी निजी आस्थाएँ उभरेंगी, फलतः वे क्षुद्रता से प्रेरित गतिविधियों में कटौती करने और उस बचत को महान प्रयोजनों में लगाने की नीति अपनाते हुए देखे जा सकेंगे। यही कारण है कि महामानव सदैव अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं में कटौती करते हैं और उससे बची शक्ति को परमार्थ प्रयोजनों में लगाए रहते हैं। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जो व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की कटौती कर सकेगा उसके पास परमार्थ प्रयोजनों में लगाने के लिए श्रम, समय, मनोयोग एवं साधनों की जरा भी कमी नहीं रहेगी।

अच्छी स्थिति आए तब परमार्थ की दिशा में अग्रसर हुआ जाए, यह सोचते हुए अच्छी स्थिति आने की प्रतीक्षा करना निस्सार है और बहुत कुछ परमार्थ के प्रति रुचि और लगन का अभाव भी है। देखा जाए तो जो उपलब्ध है, वह भी कम नहीं है। यदि उतने का ही सदुपयोग किया जा सके तो इतनी समर्थता उभरने लगती है कि सामान्य व्यक्ति भी असामान्य और आश्चर्यजनक मात्रा में सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए बहुत कुछ कर गुजर सकते हैं।

जन-जागरण के लिए वहीं अंशदान, श्रमदान करने का भाव-भरा उत्साह उमड़ेगा जहाँ परमार्थ भावना की गंगा अंतःकरण की गंगोत्री से निकलेगी। आत्मकल्याण की यमुनोत्री भी वहीं है और इन दोनों का, गंगा यमुना का—आत्मकल्याण और लोककल्याण का संगम-समन्वय एक ही रूप में दृष्टिगोचर होगा। वह रूप है जन-जागरण के लिए लोकमानस के परिष्कार के लिए भावभरा उत्साह। यह जब आतुर है तो हजार बाधाएँ और लाख कठिनाइयाँ रहने पर भी वह आगे बढ़ता रहता है। बाधाएँ और कठिनाइयाँ ही नहीं असहयोग और विरोध होने पर अकेले चल पड़ने की साहसिकता

विद्यमान रहती है। अंत:करण की इस शक्ति को कोई नहीं रोक सकता, न बाहरी प्रलोभन झुका सकते हैं, न वाक्चातुर्य, न मोह-ममता उसे फुसला सकती है। धनुष से छूटा हुआ तीर और बंदूक से निकली गोली अपने लक्ष्य पर पहुँचकर ही रहती है। जाग्रत आत्माओं का अंत:करण जब युगांतरीय चेतना से अनुप्राणित होकर प्रज्ञावतार का सहचर बनता है तो फिर उसे सोते-जागते एक ही लक्ष्य दिखाई देता है। अर्जुन को दिखाई पड़ने वाली मछली की आँख के समान उसे अपने लक्ष्य के अलावा और कुछ नहीं दीखता।

आस्थाओं का पुनर्जीवन और जनमानस का परिष्कार अपने युग का सबसे महत्त्वपूर्ण काम है। इसी प्रक्रिया को ज्ञानयज्ञ अभियान अथवा विचार क्रांति अभियान कहा जा सकता है। इस संदर्भ में क्या किया जा सकता है और अपनी स्थिति इस दिशा में कितनी तेजी से कितनी दूरी तक चल सकने की है—जाग्रत आत्माओं का मस्तिष्क इसी का ताना-बाना बुनता है। हर व्यक्ति अपनी योग्यता और मन:स्थिति के अनुरूप, चिंतन और मंथन द्वारा काम ढूँढ़ निकाल सकता है, विचार क्रांति अभियान में कौन किस प्रकार क्या योगदान दे सकता है, जाग्रत आत्माएँ इसका निर्धारण स्वयमेव करेंगी और अपने ढंग से प्रज्ञावतार की सहयोगी-सहचरी बनेंगी। उनके समस्त क्रिया-कलाप इसी क्षेत्र में नियोजित रहेंगे और सारी गतिविधियाँ इसी केंद्रबिंदु को लेकर चलेंगी। इस प्रकार आस्थाओं का कल्पवृक्ष उग आने के बाद उसके पत्र, पुष्प और फलों की संपदा का भंडार इतना बढ़ा-चढ़ा रहेगा कि उसके सहारे वर्तमान समय में संकटों में से किसी का भी निवारण करने में कोई अड़चन नहीं रहेगी।

अपने युग की समस्याओं का कोई पारावार नहीं है। अवांछनीयताओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं की भरमार है।

उनके कारण अलग-अलग हैं और सबका निवारण भी संभव है। प्रगति की दिशाधाराओं का विस्तार गगनचुंबी है। उनमें से हर किसी की महत्ता तर्क और तथ्य प्रस्तुत करते हुए की जा सकती है। पर बहुमुखी प्रगति की संभावनाएँ आकर्षक भले ही लगें, दिशाभ्रम ही उत्पन्न करती हैं। उनमें समस्याओं का वास्तविक समाधान नहीं होता, बल्कि समाधान तक पहुँचने में बाधा ही उत्पन्न होती है।

लक्ष्य एक हो—दिशाधारा एक हो, तभी कुछ काम बनता और प्रयोजन पूरा होता है। युग परिवर्तन का प्रयोजन पूरा करने का एक ही केंद्रबिंदु है—आस्थाओं का उन्नयन, चिंतन का परिष्कार, सत्प्रवृत्तियों का अवगाहन। यों वह दिखाई तो तीन देते हैं पर तथ्य की दृष्टि से एक ही हैं। सद्भाव से सत्कर्म और सद्ज्ञान उत्पन्न होता है और जाग्रत आत्माओं द्वारा प्रज्ञावतार यही महाप्रयास कराने जा रहा है। प्रत्येक आत्मा को अगले दिनों जनमानस का परिष्कार करने के लिए पूरी तत्परता और तन्मयता से संलग्न होना पड़ेगा। इस एक साधना से ही समस्त सिद्धियों से लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। ज्ञानयज्ञ का एकमात्र हव्य समयदान है और जाग्रत आत्माएँ उस हव्य को प्रस्तुत करने में पीछे नहीं रहेंगी।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।